प्रकाशक की ओर से

सन् १९४१ में जब श्री विनोबा व्यक्तिगत सत्याग्रहके प्रथम सत्याग्रहीके रूपमें दुनियाके सामने आये तब उनकी प्रसिद्धि महाराष्ट्र और गुजरातके बाहर बहुत थोड़ी थी। तभी उनके विचारोंके संग्रहका पहला भाग मंडलने प्रकाशित किया था। उसका पहला संस्करण ज़रा देरसे बिका। पर ज्यों-ज्यों लोग श्री विनोबाजीके मौलिक, उज्ज्वल और अनोखे विचारोंसे परिचित होते गये त्यों-त्यों संग्रह की माँग बढ़ती गई। फिर तो पहले भागका दूसरा और तीसरा संस्करण हुआ। और अब तो तीसरा संस्करण भी खतम होनेको है। इधर अर्सेसे दूसरा भाग भी प्रकाशित करनेका आग्रह पाठकोंकी ओरसे होने लगा। काग़ज़के नियंत्रणमें कुछ सुविधा होते ही यह दूसरा भाग पाठकोंकी सेवामें उपस्थित किया जा रहा है। इसमें अधिकतर लेख मराठी 'ग्राम-सेवा-वृत्त' तथा हिन्दी 'सर्वोदय', वर्धासे लिये गये हैं।

इस संग्रहको प्रकाशित करनेकी अनुमति देनेकी कृपाके लिए वर्धाके 'ग्राम-सेवा-मंडल'के हम बहुत आभारी हैं।

—मंत्री

दूसरे संस्करणके लिए

हिन्दीके पाठक पूज्य विनोबाजीके विचारोंसे इतने प्रभावित होने लगे हैं कि उनके साहित्यकी मांग निरंतर बढ़ती ही जा रही है। 'विनोबाके विचार'के दूसरे भागका दूसरा संस्करण है। और 'विचार'का तीसरा भाग भी तैयार हो रहा है। हमें आशा है कि हम जल्दी ही उसे पाठकोंकी भेंट करेंगे।

—मंत्री

विषय-सूची

विनोबाके विचार

दूसरा भाग

: १ :

जीवन की तीन प्रधान बातें

अपने जीवनमें मैं तीन बातोंको प्रधान पद देता हूं । उनमें पहली है **उद्योग।** अपने देशमें आलस्यका भारी वातावरण है। यह आलस्य बेकारीके कारण आया है । शिक्षितोंका तो उद्योगसे कोई ताल्लुक ही नहीं रहता । और जहां उद्योग नहीं वहां सुख कहां ? मेरे मतसे जिस देशसे उद्योग गया उस देशको भारी घुन लगा समझना चाहिए । जो खाता है उसे उद्योग तो करना ही चाहिए, फिर वह उद्योग चाहे जिस तरहका हो । पर बिना उद्योगके बैठना कामकी बात नहीं । घरोंमें उद्योगका वातावरण होना चाहिए । जिस घरमें उद्योगकी तालीम नहीं है उस घरके लड़के जल्दी ही घरका नाश कर देंगे। संसार पहले ही दुःखमय है। जिसने संसारमें सुख माना है उसके समान भ्रममें पड़ा और कौन होगा ? रामदासजीने कहा है—"**मूर्खांमांजी परम मूर्ख । जो संसारीं मानी सुख** ।।" अर्थात् वह मूर्खोंमें भारी मूर्ख है जो मानता है कि इस संसारमें सुख है । मुझे जो मिला दुःखकी कहानी सुनाता ही मिला । मैंने तो कभीसे यह समझ लिया है और बहुत विचार और अनुभवके बाद मुझे इसका निश्चय हो गया है। पर ऐसे इस संसारको जरा-सा सुखमय बनाना हो तो उद्योगके सिवाय दूसरा इलाज नहीं है, और आज सबके करने लायक और उपयोगी उद्योग सूत-कताईका है । कपड़ा हरेकको जरूरी है और प्रत्येक बालक, स्त्री, पुरुष सूत कातकर अपना कपड़ा तैयार कर सकता है । चर्खा हमारा मित्र बन जायगा, शांतिदाता हो जायगा—बशर्ते कि हम उसे सम्भालें । दुःख होने या मन उदास होनेपर चर्खेको हाथमें

ले लें तो फौरन मनको आराम मिलता है। इसकी वजह यह है कि मन उद्योगमें लग जाता है और दुःख बिसर जाता है। गेटे नामक कविका एक काव्य है, उसमें उसने एक स्त्रीका चित्र खींचा है। वह स्त्री बहुत शोक-पीड़ित और दु:खी थी। अंतमें उसने तकली सम्भाली। कविने दिखाया है कि उसे उस तकलीसे सांत्वना मिली। मैं इसे मानता हूं। स्त्रियोंके लिए तो यह बहुत ही उपयोगी साधन है। उद्योगके बिना मनुष्यको कभी खाली नहीं बैठना चाहिए। आलस्यके समान शत्रु नहीं है। किसीको नींद आती हो तो सो जाय, इसपर मैं कुछ नहीं कहूंगा, लेकिन जाग उठनेपर समय आलस्यमें नहीं बिताना चाहिए। इस आलस्यकी वजहसे ही हम दरिद्री हो गये हैं, परतंत्र हो गये हैं। इसीलिए हमें उद्योगकी ओर झुकना चाहिए।

दूसरी बात जिसकी मुझे धुन है, वह **भक्तिमार्ग** है। बचपनसे ही मेरे मनपर यदि कोई संस्कार पड़ा है तो वह भक्तिमार्गका है। उस समय मुझे मातासे शिक्षा मिली। आगे चलकर आश्रममें दोनों वक्तकी प्रार्थना करनेकी आदत पड़ गई। इसलिए मेरे अंदर वह खूब होगई। पर भक्तिके माने ढोंग नहीं है। हमें उद्योग छोड़कर झूठी भक्ति नहीं करनी है। दिनभर उद्योग करके अंतमे शामको और सुबह भगवानका स्मरण करना चाहिए। दिनभर पाप करके, झूठ बोलकर, लबारी-लफ्फाजी करके प्रार्थना नहीं होती। वरन् सत्कर्म करके दिन सेवामें बिता करके वह सेवा शामको भगवान्‌को अर्पण करनी चाहिए। हमारे हाथों अनजाने हुए पापोंको भगवान क्षमा करता है। पाप बन आवे तो उसके लिए तीव्र पश्चात्ताप होना चाहिए। ऐसोंके पाप ही भगवान् माफ करता है। रोज १५ मिनट ही क्यों न हो, सबको—लड़कोंको, स्त्रियोंको—इकट्ठे होकर प्रार्थना करनी चाहिए। जिस दिन प्रार्थना न हो वह दिन व्यर्थ गया समझना चाहिए। मुझे तो ऐसा ही लगता है। सौभाग्यसे मुझे अपने आस-पास भी ऐसी ही मंडली मिल गई है। इससे मैं अपनेको भाग्यवान मानता हूं। अभी मेरे भाईका पत्र आया है। बाबाजी उसके बारेमें लिख रहे हैं कि आजकल वह रायचंदभाईके ग्रंथ पढ़ रहे हैं। उन्हें उस साधुके सिवाय और कुछ नहीं सूझ रहा है। इधर उसे रोगने घेर रक्खा है, पर उसे उसकी परवा नहीं है।

मुझे भाई भी ऐसा मिला है। ऐसे ही मित्र और गुरु मिले। मां भी ऐसी ही थी। ज्ञानदेवने लिखा है कि भगवान् कहते हैं--मैं योगियोंके हृदयमें न मिलूं, सूर्यमें न मिलूं और कहीं भी न मिलूं, तो जहां कीर्तन-नामघोष चल रहा है वहां तो जरूर ही मिलूंगा। लेकिन यह कीर्तन कर्म करने, उद्योग करनेके बाद ही करनेकी चीज है। नहीं तो वह ढोंग हो जायगा। मुझे इस प्रकारके भक्ति-मार्गकी धुन है।

तीसरी और एक बातकी मुझे धुन है, पर सबके काबूकी वह चीज नहीं हो सकती। वह चीज है **खूब सीखना और खूब सिखाना**। जिसे जो आता है उसे वह दूसरेको सिखाये और जो सीख सके उसे वह सीखे। कोई बुड्ढा मिल जाय तो उसे सिखाये। भजन सिखाये, गीता पाठ करावे, कुछ-न-कुछ जरूर सिखाये। पाठशालाकी तालीमपर मुझे विश्वास नहीं है। पांच-छः घंटे बच्चोंको बिठा रखनेसे उनकी तालीम कभी नहीं होती। अनेक प्रकारके उद्योग चलने चाहिए और उसमें एक-आध घंटा सिखाना काफी है। काममेंसे ही गणित इत्यादि सिखाना चाहिए। क्लास इस तरहके होने चाहिए कि एक पैसा मजदूरी मिली तो उसे पहला दर्जा और उससे ज्यादा मिली तो दूसरा दर्जा। इसी प्रकारसे उन्हें उद्योग सिखाकर उसीमें शिक्षा देनी चाहिए। मेरी मां 'भक्ति-मार्ग-प्रदीप' पढ़ रही थी। उसे पढ़ना कम आता था, पर एक-एक अक्षर टो-टोकर पढ़ रही थी। एक दिन एक भजनके पढ़नेमें उसने १५ मिनट खर्च किये। मैं ऊपर बैठा था। नीचे आया और उसे वह भजन सिखा दिया। और पढ़ा कर देखा, पंद्रह-बीस मिनटमें ही वह भजन उसे ठीक आगया उसके बाद रोज मैं उसे कुछ देरतक बताता रहता था। उसकी वह पुस्तक पूरी करा दी। इस प्रकार जो-जो सिखाने लायक हो वह सिखाते रहना चाहिए और सीखते भी रहना चाहिए। पर सबसे बन आनेकी बात नहीं है। पर उद्योग और भक्ति तो सबसे बन आ सकती है। उन्हें करना चाहिए और इस उद्योगके सिवाय मुझे तो दूसरा सुखका उपाय दिखाई नहीं देता है।[1]

---

१ पवनारमें (२० दिसंबर १९३५को) सायं-प्रार्थनाके बाद दिये गए एक प्रवचनकी रिपोर्ट।

: २ :

ऋषि-तर्पण

मनुष्य देव और पशुके बीचों-बीच खड़ा है। एक तरहसे वह उनके बीचकी संधि है या उन्हें जोड़नेवाली कड़ी है। यह अनुभव पग-पगपर होता है कि अगर वह चाहे तो पशुसे भी पशु बन सकता है। लेकिन, थोड़ा ही क्यों न हो, संसारको यह भी अनुभव हुआ है कि वह अगर इच्छा करे तो उसके अंदर देव बननेकी शक्ति भी मौजूद है। 'नरका नारायण' होना असम्भव 'नहीं है। यह बात आजतक अनेक महापुरुष अपनी कृतिसे दुनियाको दिखा चुके है।

आधुनिक समयका इसी तरहका एक उदाहरण लोकमान्य तिलकका है। जो मनुष्य अपने कर्त्तव्यका पालन कर देव-कोटिमें प्रतिष्ठित होते हैं, उन्हें वेदोंने 'कर्मदेव'की पदवी दी है। यह पदवी तिलकने हम सबके देखते-देखते प्राप्त की है। उस प्रसंगका स्मरण तो अब भी ताजा है। पर सिर्फ स्मरण काफी नहीं है। स्मरणके साथ अनुकरण भी होना चाहिए।

आकाशके अवकाशमें अगणित तारे भरे पड़े हैं। दूरबीनके बिना खाली आंखोंसे उन सबके दर्शन नहीं हो सकते। दूरबीनसे भी सबके दर्शन तो होते ही नहीं। लेकिन खाली आंखोंसे ओझल रहनेवाले कुछ सूक्ष्म तारे उसके द्वारा दर्शन दे देते हैं। जीवन भी आकाशके समान पोला प्रतीत होता है। लेकिन यह पोला-सा प्रतीत होनेवाला जीवन अनंत ठोस सिद्धांतोंसे भरा हुआ है। केवल बुद्धिके द्वारा उनमेंसे बहुत ही थोड़े सिद्धांत ग्रहण किये जा सकते हैं। परंतु तपस्याकी दूरबीन लगानेसे कुछ सूक्ष्म सिद्धांत प्रकट होने लगते हैं। इस तरहका कोई नया तत्त्व जो देख पाया हो उसे मंत्र-दर्शन हुआ ऐसा कह सकते हैं। उसीको ऋषि कहते हैं। ऋषि शब्दका मूल अर्थ है 'मंत्रद्रष्टा'—मंत्र देखनेवाला। यह कथा प्रसिद्ध है कि विश्वामित्र ऋषिने कठिन तपस्याके द्वारा गायत्री मंत्र प्राप्त किया। तिलक महाराज भी वर्तमान युगके इसी तरहके एक ऋषि थे। कारण, उन्होंने भी तपस्या की; उन्होंने भी मंत्र प्राप्त किया। यह कौन-सा मंत्र है? वह है, '**स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है; और मैं**

उसे लेकर रहूंगा।' इस मंत्रका उच्चार तो हमने खूब किया है। लेकिन केवल उच्चार काफी नहीं है। उच्चारके साथ-साथ आचार भी चाहिए।

तिलकने यह भी बतला दिया है कि इस आचारकी नीति क्या हो? उनके लिए यह अनिवार्य भी था। कारण, उनका यह मत था कि केवल सिद्धांतका निरूपण कर देना पर्याप्त नहीं है। उसके साथ-साथ उसका उपयोग कहां और कैसे किया जाना चाहिए, आदि बातें भी ब्यौरेवार बताना आवश्यक है। इसलिए केवल उक्त मंत्र बतानेसे ही उन्हें संतोष नहीं हुआ। उस मंत्रका भाष्य भी उन्होंने स्वयं ही लिखा। शंकराचार्यने कहा है कि भगवान्ने गीताके द्वारा अर्जुनके बहाने सारे जगत्को उपदेश दिया। उसी प्रकार तिलकने अपने 'गीता-रहस्य'में गीताके निमित्तसे उक्त मंत्रकी व्याख्या की है। लेकिन यह बात हमारे ध्यानमें नहीं आई। इसलिए गीता-रहस्यका गीताके श्लोकोंसे सामंजस्य करनेका व्यर्थका झंझट हमने खड़ा किया और नाहक उलझनमें पड़ गये। गीता-रहस्य पूर्वोक्त-स्वराज्य मंत्रका रहस्य है, इस बातको ध्यानमें रखनेसे हम गीता-रहस्यका अर्थ समझ सकेंगे। किंतु केवल समझना ही यथेष्ट नहीं है। समझनेके साथ-साथ हमारा कर्त्तव्य क्या है, यह भी दिखाई देना चाहिए।

२

"स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध हक है" यह हुआ अधिकार वाला अंश। इसीमें 'और मैं उसे प्राप्त करूंगा' यह कर्तव्यात्मक अंश जोड़ दिया गया है। आसुरी सम्पत्ति कहती है, "हककी रक्षा करना मेरा कर्तव्य है।" दैवी सम्पत्ति कहती है, "कर्त्तव्य करते रहना मेरा अधिकार है।" पश्चिमकी संस्कृतिको आसुरी सम्पत्तिकी हविस है। पूर्वकी संस्कृतिको दैवी सम्पत्तिसे प्रेम है। संस्कृत भाषामें तो 'हक'के अर्थका अलग कोई शब्द ही नहीं पाया जाता। उस अर्थको व्यक्त करनेके लिए हम 'अधिकार' शब्दका प्रयोग करते हैं। पर अधिकार शब्दका मूल अर्थ 'अपने हिस्सेका काम' या कर्त्तव्य ही है। "तेरा कर्म करनेका अधिकार है, फल-प्राप्तिका नहीं", इस गीता-वचनमें 'अधिकार' शब्दके अर्थके साथ ही दैवी सम्पत्तिके स्वरूपका भी अच्छा स्पष्टीकरण हो गया है।

उक्त स्वराज्य-मंत्रकी बनावट—विशेषतः उसके पूर्वार्द्धकी—बेशक ठेठ

पश्चिमके ढंगकी है। लेकिन एक तरहसे यह स्वाभाविक ही था। क्योंकि साधारण रूपसे इस मंत्रका अवतार पश्चिमकी संस्कृतिसे मंत्र-मुग्ध लोगोंके लिए ही है। और जो बात मंत्रपर घटित होती है वही भाष्यके लिए भी है, यह तो स्पष्ट ही है। इसलिए गीता-रहस्यपर पश्चिमके ढंगकी गहरी छाप दिखाई देती है। परंतु शिष्य कितना भी विद्वान् क्यों न हो, गुरुजनोंकी अधीनतामे रहनेसे उसकी विद्वत्ता कुछ दब ही जाती है। या यों कहिए कि भड़कीले रंगकी चीज भी चांदके राजमें फीकी पड़े बिना नहीं रहती। उसी प्रकार गीता-रहस्यमे श्रीकृष्णके योग-शास्त्रकी रक्षा करते हुए प्रवचन किया गया है। इसलिए मूलभूत रजोगुणी वृत्ति बहुत ढीली पड गई है। इसलिए मंत्रमें पूर्वार्द्धपर जोर दिखाई देते हुए भी भाष्यमें उत्तरार्द्धपर जोर दिया गया है। माना कि "स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध हक है", लेकिन आलसी हक्कको कौन पूछता है ? इसलिए पूर्वार्द्धमें प्रतिपादित इस सिद्धांतकी अपेक्षा उत्तरार्द्धमें निरूपित "मैं उसे लेकर रहूंगा", यह संकल्प अधिक महत्त्व रखता है। महत्त्वके प्रश्न ये है, "स्वराज्य आज क्यों नहीं है ? और कल कैसे लेना है" ? और तिलकने गीता-रहस्यमे इनके जो जवाब दिये हैं उनका एक-एक अक्षर सत्य है।

तिलकका कथन संक्षेपमें इस प्रकार है, "यदि स्वराज्य लेना है, तो ज्ञान और कर्मकी जोड़ी हरगिज नही टूटनी चाहिए।" आजतक समझदारी और कारगुजारीकी एक-दूसरीसे जान-पहचान भी नही थी। एकका मुंह पूरबको था तो दूसरीका पश्चिमको। इसलिए स्वराज्यके दर्शन नही हुए। समझदारी कारगुजारीका स्पर्श गवारा नही कर सकती थी। "इस अस्पृश्यताके दूर होते ही स्वराज्य आपके पास ही है"—यह कथन कितना यथार्थ है! आज बूढ़ोंका अनुभव और जवानोंका उत्साह अलग-अलग हो गये है। स्त्रियोंकी समझदारी और पुरुषोंकी कारगुजारी बिछुड़ गई है। ब्राह्मणोंका शास्त्र और अब्राह्मणोंकी कलाके बीच दरार पड़ गई है। हिंदुओंकी नीति-निपुणता और मुसलमानोंके जोशमें मेल नहीं रहा। अंग्रेजोंकी सभ्यता और अंत्यजोंकी सेवाका आपसमें लगाव नहीं है। भिक्षुकके धर्म और गृहस्थके कर्मका मेल नहीं रहा है। कहना न होगा कि अगर हम यह अवस्था सुधार सकें—ज्ञान और कर्मका समुच्चय

साध सकें—तो स्वराज्य हमारे हाथ में है।

पुराने इतिहासमें महाराष्ट्रने स्वराज्यका बड़ा भारी आंदोलन किया था। उस आंदोलनके नेताओंने भी उसी बातपर जोर दिया था, जिसका प्रतिपादन लोकमान्यने गीता-रहस्यमें किया है। **'चित्तीं नाम हातीं काम'** (मनमे राम,हाथमें काम)—यह था उस आंदोलनका सिद्धात-वाक्य। गोरोबा (कुम्हार जातिके एक श्रेष्ठ संत) नेताओंके गुरु माने जाते थे। इतनी उनके ज्ञानकी ख्याति थी। लेकिन कच्चे घड़े पका-पकाकर पक्के बनानेका उनका कारखाना कभी बंद नहीं हुआ। सेना नाई भी आंदोलनके एक महान् सेनापति थे। तो भी सिरपरका मैल उतारकर दर्पण दिखानेका उनका काम बराबर जारी था। नामदेव (दर्जी) को तो आंदोलनका प्राण ही कहना चाहिए। भगवान नामदेवका नाम जितना जपते, उतना भगवानका नाम नामदेव शायद न जपते रहे होंगे। लेकिन फिर भी फटे हुए (वस्त्र) सीनेका उनका कुलव्रत अबाधित रूप से चलता रहा। और ऐसा था, इसीलिए उस वक्त महाराष्ट्रको, कुछ दिनके लिए, स्वराज्यके दर्शन हुए।

जब 'ज्ञानी' कहलानेवाले लोग कर्मसे ऊबने लगते है, या कर्म करनमें शरमाने लगते हैं, तब राष्ट्रके पतनका आरंभ होता है। यह नियम गिबनने रोमके इतिहासमे लिखकर रक्खा है, और हमारे यहांके सारे संतों, कवियों और आचार्योंने यही बात एक स्वरसे कही है। "जो कर्मको छोटा समझ चलते है, वे गवार हैं, ज्ञानी नही", यह वाक्य तो ज्ञानियोंके राजा खुद ज्ञानेश्वर कह गये हैं। और "मै पहलेके सतोंसे राह पूछता हुआ बोल रहा हू", यह गवाही उन्हींने दी है। तिलक भी वही बात कहना चाहते थे। लेकिन उन्हे कुछ ऐसा मालूम हुआ कि इस सिद्धांतके प्रतिपादनमें वह अकेले पड़ गये है, उनका कोई सहायक नही है। इसी धारणाके कारण उन्होंने खीझ-खीझकर बड़े आवेशसे अपने मतका प्रतिपादन किया है। इसके लिए जिम्मेदार कौन है?—गुलाम लोगोंका बावला संसार और दुर्बल परमार्थ।

२

सच तो यह है कि ज्ञान न तो कर्मसे डरता है, न उसे अपनी शानके खिलाफ समझता है। यह नियम सामान्य ज्ञानपर ही नहीं, ब्रह्मज्ञानपर भी घटित होता

है। मनुष्य जितना ज्ञानमें घुल गया हो, उतना ही वह कर्मके रंगमें रंग जाता है। यह सच है कि ज्ञान उदय होते ही कर्मका झंझट अस्त हो जाता है। लेकिन कर्मके झंझटके अस्त होनेके माने कर्मका ही अस्त होना नहीं है। उसका अर्थ है कि कर्म सहज हो जाता है। आइए, हम कुछ ज्ञानियोंकी ही गवाही लें।

पहली गवाही श्रीकृष्णकी लें। वह कहते हैं, "मनुष्यके चित्तमें ज्ञानका उदय होते ही 'मैं' तत्क्षण अस्त हो जाता है। इसीलिए लोगों े लिए सहानुभूति पैदा हो जाती है और साहस तथा उत्साहकी किरणोंके फूट पड़नेके कारण भय और लज्जाका प्रश्न ही नहीं रह जाता। ऐसी अवस्थामें ज्ञानी दुगुने जोरसे कर्मकरने लगता है। भूतदयाके कारण उसका शरीर लोक-संग्रहमें अभ्यस्त हो जाता है।" इस सिलसिलेमें उन्होंने महाराज जनकका पुराना उदाहरण दिया है और अपने अनुभवसे उसकी पुष्टि की है। इसके अतिरिक्त यह टिप्पणी और जोड़ दी है कि यदि श्रेष्ठ पुरुष कर्म नहीं करेंगे तो साधारण लोगोंको पदार्थ-पाठ नहीं मिलेगा।

दूसरी गवाही आचार्य (शंकराचार्य) की। वह कहते हैं, "संसारके कर्मोंके विषयमें यह कहा गया है कि ज्ञानकी अग्निके सुलगते ही कर्म भस्म होजाते हैं। परमार्थके कर्मपर वह लागू नहीं होता। पारमार्थिक कर्मोंके आचरणसे ही तो मनुष्यको ज्ञान प्राप्त होता है। यानी परोक्ष रूपसे इस कर्मकी कोखसे ही ज्ञानका जन्म होता है। अतः वह कर्म ज्ञानके लिए माताके समान है। ऐसी दशामें अगर इस कर्मपर भी ज्ञान हथियार उठाये तो उसे मातृहत्याका पातक लगेगा। इसलिए साधकावस्था में शुरू किया गया 'प्रारब्ध' कर्म ज्ञान हो जानेके पश्चात् भी शेष रह जाता है।" इसका स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने यह व्याव-हारिक दृष्टांत दिया है कि मटका तैयार हो जानेपर भी कुम्हारका चाक कुछ देरतक घूमता रहता है।

तीसरी गवाही समर्थकी। वह कहते हैं, "साधकको ज्ञानका 'रहस्य' प्राप्त हो जाता है तो भी वह फिर पूर्ववत् ही यत्न करता रहता है क्योंकि इसका क्या ठिकाना है कि इस रहस्य को भी जंग न खा जाये? ऐसा सोच कर वह अपने ज्ञानको सत्कर्मसे मांजता रहता है। इसलिए उसको जंग लगनेका डर नहीं रहता। खूंटेको हिला-हिलाकर खूब मजबूत कर देनेके लिए ज्ञानी सावधान

वृत्तिसे अपनी उपासना जारी रखता है और आखिरतक सत्कर्म करता रहता है।"

चौथी गवाही तुकोबाकी। वह कहते हैं,"कोई आदमी पहले गांवका ज्योतिषी था। हाथीने उसके गलेमें माला पहना दी। इससे बेचारा राजा हो गया। फिर भी उसका पत्रा (पंचांग) नहीं छूटता था।" ज्ञानी मनुष्यकी हालत भी इस राजाके जैसी ही होती है। उसकी भी साधकावस्थामें पड़ी हुई आदत कभी भी कैसे छूटे ? अपने कथनकी पुष्टिके लिए उन्होंने अपना ही अनुभव पेश किया है। "मैं केवल 'तुका' था। बादमें संतोंकी संगतिसे भजनका चस्का लग गया। आज मैं 'राम' हो गया हूं, लेकिन मेरा भजन बन्द नहीं होता। मूल स्वभाव नष्ट नहीं होता, तो इसे मैं क्या करूं ?"

४

खैर। बड़े-बड़े आदमियोंके फेरमें पड़कर हमने बहुत बड़ी-बड़ी बातें कीं। ये बातें हमारे अधिकारके बाहरकी हैं, बहुतोंकी तो समझमें भी नहीं आयेगी। लेकिन कोई हर्ज नहीं। जो आज समझमें नहीं आतीं, कल आने लगेंगी। संतोंकी कृपासे हमारा अधिकार भी धीरे-धीरे बढ़ेगा। और फिर, ऐसी बातें जब-तब कानोंमें पड़ा करें तो कोई नुकसान नहीं है। हैसियत न होनेपर भी लोग साहूकारसे कर्ज लेकर त्यौहार तो मनाते ही हैं! उसी प्रकार लोकमान्यकी पुण्यतिथिके दिन हमने भी संतोंके चरणोंमें भीख मांगकर चार टुकड़े जुटा लिये तो इसमें कोई गलती नहीं की। ऐसा न करें तो गरीबोंको पकवानके दो कौर भी खानेको कब मिलेंगे ? इसके सिवा, हमने ऋण साहूकारसे नहीं लिया है, संतोंसे लिया है। इसलिए हम सुरक्षित हैं। संत हमें तबाह कर देंगे, इसका डर तो है ही नहीं। अगर सवाल है तो इतना ही कि क्या हम यह पकवान पचा सकेंगे ?

('महाराष्ट्र धर्म' : १६ जुलाई, १९२४)

: २ :

निवृत्त-शिक्षण

फ्रांसकी राज्य-क्रांतिके इतिहासमें रूसो और वाल्टेर नामक ग्रंथकारोंके नाम बहुत प्रसिद्ध हैं। इन ग्रंथकारोंकी भाषा, विचारशैली तथा लेखन-पद्धति

तेजस्वी, जीवत और क्रांतिकारक है। लोगोंमे जितनी धाक इनकी लेखनीकी थी, उतनी बड़े-बड़े बलवान राजाओंके शस्त्रबलकी भी नही थी। फ्रांसकी राज्य-क्रांति इनके लेखोंका मूर्त परिणाम थी। इन दोनों लेखकोंमेंसे रूसो विशेषभावना-प्रधान था। लेख लिखनेके लिए उसने कभी भाषा-शास्त्रका अध्ययन नहीं किया था। उसके विचार उसके हृदयमे समाते नहीं थे, बाहर निकलनेके लिए छटपटाते और धक्के देते थे। ज्वालामुखी पर्वतके जलते हुए रसकी भांति, बल्कि उससे भी बढ़कर, दाहक होते थे और उसकी इच्छाके विरुद्ध—'अनिच्छन्नपि'—बाहर निकलते थे। उसके लेखों द्वारा उसका हृदय बोलता था। और इसीलिए उसके लेख चाहे बौद्धिक या तार्किक कसौटीपर खरे भले ही न उतरें, तो भी परिणामतः वे धधकती आगके समान होते थे, यह इतिहासको भी मानना पड़ा है।'**मृतजीवनकी अपेक्षा जीवित मृत्यु श्रेयस्कर है**'—उसके लेखोका यही एक सूत्र था। ऐसे प्रभावशाली,प्रतिभावान लेखकके शिक्षण-विषयक मतोंका मननपूर्वक विचार करना हमारा कर्तव्य है।

रूसोके मतानुसार शिक्षणके तीन विभाग करने चाहिए—(१) निसर्ग-शिक्षण; (२) व्यक्ति-शिक्षण और (३) व्यवहार-शिक्षण।

शरीरके प्रत्येक अवयवका संपूर्ण और व्यवस्थित विकास होना; इंद्रियोंका चपल, फुर्तीली, कार्यपटु बनना; विभिन्न मनोवृत्तियोका सर्वांगीण विकास होना; स्मृति, प्रज्ञा, मेधा, धृति, तर्क इत्यादि बौद्धिक शक्तियोंका प्रगल्भ और प्रखर बनना—इन सबका समावेश उसके मतसे निसर्ग-शिक्षणमे होता है। दूसरे शब्दोंमें, मनुष्यकी भीतरी शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक वृद्धि—आत्म-विकास—निसर्ग-शिक्षण है। मनुष्यको बाह्य परिस्थितिमेसे जो ज्ञान प्राप्त होता है, व्यवहारमें जो अनुभव होता है, उस सब पदार्थ-विज्ञानको या भौतिक जानकारीको उसने व्यवहार-शिक्षण नाम दिया है। और निसर्ग-शिक्षणसे होनेवाले आत्म-विकासका व्यवहार-ज्ञानकी दृष्टिसे बाह्य जगत्में कैसे उपयोग किया जाय, इस संबंधमें दूसरे मनुष्योंके प्रयत्नसे जो वाचिक, साम्प्रदायिक अथवा शालीन (पाठशालामें मिलनेवाला) शिक्षण मिलता है, उसे उसने व्यक्ति-शिक्षण संज्ञा दी है। अर्थात् व्यक्ति-शिक्षण, उसकी दृष्टिसे व्यवहार-शिक्षण

और निसर्ग-शिक्षणको जोड़नेवाली संधि है। वस्तुतः यह बात कोई विशेष महत्त्व नही रखती कि रूसोने शिक्षणके कितने विभाग किये हैं। अमुक विषयके अमुक विभाग करने चाहिएं, ऐसा कोई नियम नहीं है। यह सब सुविधाका सवाल है। इसलिए दृष्टि-भेदके कारण वर्गीकरणमें अंतर होना स्वाभाविक है । रूसोके किये हुए तीन विभाग आवश्यक ही हैं, ऐसी कोई बात नहीं है। क्योंकि ऐसा कहा जा सकता है कि मनुष्यको, क्या व्यक्ति-शिक्षण और क्या व्यवहार-शिक्षण बाहरसे मिलता है। केवल निसर्ग-शिक्षण ही भीतरसे मिलता है। इस दृष्टिसे, अगर हम अंत:-शिक्षण और बाह्य शिक्षण ये दो ही विभाग करें, तो क्या हर्ज है?

परंतु इससे भी आगे बढ़कर यह भी कहा जा सकता है कि बाह्य शिक्षण केवल अभावात्मक क्रिया है और अंत:-शिक्षण ही भावरूप है। इसलिए शिक्षणका वही एकमात्र यथार्थ अथवा तात्त्विक विभाग है। हमने जिसे 'बाह्य-शिक्षण' कहा है, वह केवल मनुष्योंसे अथवा पाठशालामें ही नहीं मिलता। वह शिक्षण इस अनंत विश्वके प्रत्येक पदार्थसे निरंतर मिलता ही रहता है। उसमें कभी विराम नहीं होता। जैसा कि शेक्सपीयरने कहा है, "बहते हुए झरनोंमें प्रासादिक ग्रंथ संचित हैं, पत्थरोंमें दर्शन छिपे हुए हैं और यच्चयावत् पदार्थोंमें शिक्षाके सारे तत्त्व सन्निहित हैं।" वृक्ष, वनस्पति, फूल, नदियां, पर्वत, आकाश, तारे—सभी मनुष्यको अपने-अपने ढंगसे शिक्षा देते हैं। नैयायिकोंके अणुसे लेकर सांख्योंके महत्तत्त्वतक, भूमिति (रेखागणित) के बिंदुसे लेकर भूगोलके सिंधुतक, या छुटपन-की भाषामें कहें, तो 'रामजीकी चोटीसे लेकर तुलसीके मूल' तक सारे छोटे-बड़े पदार्थ मनुष्यके गुरु हैं। विचक्षण विज्ञान-वेत्ताओंके दूर-चक्षु (दूरबीन) से, व्यवहार-विशारदोंके चर्मचक्षुसे, कल्पना-कुशल कवियोंके दिव्य-चक्षुसे या तार्किक तत्त्ववेत्ताओंके ज्ञान-चक्षुसे जो-जो पदार्थ दृष्टिगोचर होते होंगे—अथवा न भी होते होंगे—उन सब पदार्थोंसे हमें नित्यपाठ मिल रहे हैं। सृष्टि-परमेश्वर द्वारा हमारे अध्ययनके लिए हमारे सामने खोलकर रक्खा हुआ एक शाश्वत, दिव्य, आश्चर्यमय, परम पवित्र ग्रंथ है। उसके सामने वेद व्यर्थ हैं, कुरान बेकार है, बाइबिल निर्बल है। लेकिन यह ग्रंथ-गंगा चाहे कितनी ही गंभीर क्यों न हो, मनुष्य तो अपने लोटेसे ही उसका पानी लेगा। इसलिए इस विश्वमेंसे 'बाह्यतः' हमें

वही और उतना ही शिक्षण मिलेगा, जिसके या जितनेके बीज हमारे 'अंदर' होंगे। इसका अनुभव हर एकको है। हम इतने विषय सीखते हैं, इतने ग्रंथ पढ़ते हैं, इतने विचार सुनते हैं, इतनी चीजें देखते हैं, उनमेंसे कितनी हमें याद रहती हैं? सारांश, बाह्य जगतसे हम जो कुछ सीखते हैं, वह सब भुला देते हैं। उसकी जगह केवल संस्कार बाकी रह जाते हैं। बल्कि शिक्षणका अर्थ जानकारी नष्ट होनेपर बचे हुए संस्कार ही हैं। इसका क़ारण ऊपर दर्शाया गया है। जो हमारे 'अंदर' नहीं है, वह बाहरसे आना असंभव है। बाह्य शिक्षण कोई स्वतंत्र या तात्त्विक पदार्थ नहीं है। वह केवल एक अभावात्मक क्रिया है।

अब ऐसे प्रसंगमें हमेशा एक दुहरी समस्या पेश होती है। यदि बाह्य शिक्षणको मिथ्या मानें, तो संस्कार बननेके लिए किसी-न-किसी बाह्यनिमित्त या आलंबन अथवा आधारकी आवश्यकता होती ही है। इसके विपरीत अगर बाह्य-शिक्षणको सत्य या भाव-रूप मानें, तो ऊपर कहे अनुसार उसका अंतर-विकासके अनुकूल अंश ही, और वह भी संस्कार-रूपमें, शेष रहता है। अर्थात् उभय पक्षमें विप्रतिपत्ति (डाईलेमा) उपस्थित होती है। ऐसी अवस्थामें इन दोनों शिक्षणोंका परस्पर संबन्ध क्या माना जाय? परंतु यह विवाद नया नहीं है। इसलिए उसका निर्णय भी नया नहीं है। सभी शास्त्रोंमें इस प्रकारके विवाद उपस्थित होते हैं और सर्वत्र उनका एक ही निर्णय होता है। उदाहरणके लिए, यह वेदांती विवाद कि 'सुखका बाह्य पदार्थोंसे क्या संबध है', लीजिए। वहां भी वही गुत्थी है। अगर आप कहें कि बाह्य पदार्थों में सुख है, तो उनसे सर्वदा सुख ही मिलना चाहिए; लेकिन ऐसा होता नहीं है। यदि मनस्थिति बिगड़ी हुई हा, तो दूसरे अवसरोंपर सुखकारक प्रतीत होनेवाले पदार्थ भी सुख नहीं दे सकते। इसके विपरीत यदि कहें कि बाह्य पदार्थोंमें सुख नहीं है, सुख एक मानसिक भावना है, तो ऐसा भी अनुभव सदा नहीं होता। जैसा कि शेक्सपीयरने कहा है, "यदि इच्छा ही घोड़ा बन सकती, तो प्रत्येक मनुष्य घुड़सवार हो जाता।" लेकिन ऐसा हो नहीं सकता, यह निष्ठुर सत्य है। तब इस समस्याका समाधान कैसे हो?

इसी तरहका दूसरा दृष्टांत न्याय-शास्त्रसे लीजिए। प्रश्न यह है कि

'मिट्टीका मटकेसे क्या संबंध है' ? अगर आप कहें कि मिट्टी ही मटका है, तो मिट्टीसे पानी भरकर दिखाइए। मिट्टी अलग और मटका अलग कहें, तो हमारी मिट्टी हमें दे दीजिये, अपना घड़ा लेते जाइए। ऐसी हालतमें इन दोनोंका क्या सम्बन्ध माना जाय ? यदि हम शुद्ध हिंदीमें कहें कि हम बतला नहीं सकते कि इस सम्बन्ध का क्या स्वरूप है, तो हमारा अज्ञान दीखता है। इसलिए इस संबंध को 'अनिर्वचनीय संबंध' यह भव्य और प्रशस्त सस्कृत नाम दिया गया है।

परंतु इस संबंधके अनिर्वचनीय होते हुए भी एक पक्षमें जिस प्रकार '**वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्**'—'मिट्टी तात्त्विक और मटका मिथ्या' —ऐसा तारतम्यसे निश्चय किया जा सकता है उसी प्रकार दूसरे पक्षमें अंतः-शिक्षण भावरूप और बाह्यशिक्षण अभावरूप कार्य है, ऐसा कहा जा सकता है।

किंतु ऐसा कहते ही एक दूसरा ही मूलोत्पाटी प्रश्न उपस्थित होता है। हमने शिक्षाके दो विभाग किये हैं। उनमेंसे अंतः-शिक्षण अथवा आत्म-विकास भावरूप होते हुए भी वह हर एक व्यक्तिके अंदर-ही-अंदर होता रहता है। उसके लिए हम कुछ भी कर नहीं सकते। उसका कोई पाठ्यक्रम नहीं बनाया जा सकता। और यदि बनाया भी जाय, तो उसपर अमल नहीं किया जा सकता। बाह्यशिक्षण सामान्यतः और व्यक्ति-शिक्षण विशेषतः अभावरूप करार दिया गया है। "ऐसी अवस्थामें '**न हि शशक-विषाणां कोऽपि कस्मै ददाति**' इस न्यायके अनुसार शिक्षण-विषयक आंदोलन हमारी मूर्खताके प्रदर्शन ही हैं क्या ?" यह कह देना आवश्यक है कि यह आक्षेप आपाततः जैसा लाजवाब या मुंहतोड़ मालूम होता है, वस्तुतः वैसा नहीं है। कारण, जब हम यह कहते हैं कि (बाह्य) शिक्षण अभावात्मक कार्य (निगेटिव फंक्शन) है, तब हम यह तो नहीं कहते कि वह 'कार्य' ही नहीं है। वह कार्य है, वह उपयोगी कार्य है, परन्तु वह अभावात्मक कार्य है, इतना ही हमें कहना होता है। निवेदन इतना ही है कि शिक्षणका कार्य कोई स्वतंत्र तत्त्व उत्पन्न करना नहीं है। सुप्त तत्त्वको जाग्रत करना है। इसलिए शिक्षणका उपयोग लोग जिस अर्थमें समझते हैं, उस अर्थमें नहीं है। लेकिन इतनेसे शिक्षण निरुपयोगी नहीं हो जाता। उग्र सुधारकोंके 'विधवा-विवाहोत्तेजन' को समाज-शिक्षक कर्वेका 'विधवा-विवाह-प्रतिबंधनिवारण' भले ही निरुपयोगी

मालूम होता हो, परंतु वास्तवमें वह निरुपयोगी नहीं है। बल्कि वही उपयोगी है, यह मानना पड़ेगा। सारांश, शिक्षण उत्तेजक दवा नहीं है, वह प्रतिबंध-निवारक उपाय है। रस्किनने शिल्पकलाकी भी ऐसी ही व्याख्या की है। शिल्पज्ञ पत्थर या मिट्टीमेंसे मूर्ति उत्पन्न नहीं करता। वह तो उसमें है ही। सिर्फ छिपी हुई है। उसे प्रकट करना शिल्पीका काम है। इसपरसे स्पष्ट है कि शिक्षण अभावात्मक होते हुए भी उपयोगी है। और चाहे प्रतिबंध-निवारणके अर्थमें ही क्यों न हो, उसमें थोड़ी-सी भावात्मकता है ही। इसी अर्थको ध्यानमें रखकर ऊपर 'तारतम्यसे (अपेक्षाकृत) अभावात्मक ऐसी सावधानीकी भाषाका प्रयोग किया है। शिक्षण आत्मविकासकी तुलना में अभावात्मक है। अर्थात् उसका 'भाव' बहुत थोड़ा है।

लेकिन हमने शिक्षा का भाव बेहद बढा दिया है। इसलिए हमारी वर्तमान शिक्षा-प्रणाली अत्यंत अस्वाभाविक, विपरीत और दुराग्रही हो गई है। जहां किसी लड़केकी स्मरण-शक्ति जरा तीव्र दिखाई दी कि उसे और ज्यादा कंठ करनेको उत्साहित किया जाता है। लड़केका पिता अधीर हो उठता है। लड़केके दिमागमें कितना ठूंसूं और कितना नहीं, इसका उसे कोई विवेक नहीं रहता। पाठशालाकी शिक्षण-पद्धतिमें भी यही नीति निर्धारित की जाती है। इसके विपरीत यदि विद्यार्थी मंद हो, तो उसकी अवश्य उपेक्षा की जायगी। होशियार माने जानेवाले लड़के जैसे-तैसे कॉलेजतक पहुंचते हैं और फिर पिछड़ जाते हैं। और यदि कॉलेजमें न पिछड़े, तो आगे चलकर व्यवहारमें निकम्मे साबित होते हैं। इसका कारण यह है कि उनकी कोमल बुद्धिपर बेहिसाब बोझ लादा जाता है। यदि घोड़ा तेज है और व्यवस्थितरूपसे चलता है, तो उसे छेड़ना नहीं चाहिए। लेकिन इसके बदले 'घोड़ा तेज है न ? लगाओ चाबुक', ऐसी नीतिसे क्या होगा ? घोड़ा भड़क जायगा। खुद तो गड्ढेमें गिरेगा ही अपने मालिकको भी गिरायेगा। यह बेवकूफीकी और जंगली नीति कम-से-कम राष्ट्रीय शालाओंमें तो हरगिज नहीं बरतनी चाहिए।

सच बात तो यह है कि जहां विद्यार्थीको यह भान हुआ कि वह शिक्षण ले रहा है, वहां शिक्षणका सारा आनंद ही लुप्त हो जाता है। छोटे लड़कोंसे जो

यह कहा जाता है कि खेल ही उत्तम व्यायाम है, उसका भी रहस्य यही है। खेल में व्यायाम होता है, लेकिन 'मै व्यायाम करता हूं', यह बोध नहीं होता। खेलते समय आसपासका जगत नष्ट हो जाता है। लड़के तद्रूप होकर अद्वैतका अनुभव करते हैं। देह-भान लुप्त हो जाता है। प्यास, भूख, थकान, चोट, किसी वेदनाकी भी प्रतीति नहीं होती। सारांश, खेल आनंद होता है। वह व्यायाम-रूप कर्तव्य नहीं होता। यही नियम शिक्षणपर भी लागू करना चाहिए। 'शिक्षण एक कर्तव्य है', इस कृत्रिम भावनाके बदले 'शिक्षण आनंद है', यह नैसर्गिक और तेजस्वी भावना उत्पन्न होनी चाहिए। लेकिन क्या हमारे लड़कों में ऐसी भावना पाई जाती है? 'शिक्षण आनंद है' इस भावनाकी बात तो छोड़ दीजिए; किंतु 'शिक्षण कर्तव्य है', यह भावना भी बहुत कम पाई जाती है। 'शिक्षण दंड है', यह गुलामीकी भावना ही आज विद्यार्थियोंमें प्रचलित है। बालकने जरा सजीवताकी चमक या स्वतंत्र-वृत्तिके लक्षण दिखाये नहीं कि तुरंत घरवाले कहने लगे कि अब इसे स्कूलमें बेड़ना चाहिए। तो पाठशालाका अर्थ क्या हुआ?—बेड़नेकी जगह! इसलिए इस पवित्र कार्यमें हाथ बटानेवाले शिक्षक इस जेलखानेके छोटे-बड़े कर्मचारी हैं!

लेकिन इसमें दोष किसका है? शिक्षाके विषयमें हमारे जो विचार है और उनके अनुसार हमने जिस पद्धतिका—अथवा पद्धतिके अभाव का—अवलंबन लिया है, उसका यह दोष है। विद्यार्थियोंका शिक्षण इस प्रकार होना चाहिए कि उन्हें उसका बोधही न हो,यानी स्वाभाविकरूपसे होना चाहिए। बाल्यावस्थामें बालक जिस सहजभावसे मातृभाषा सीखता है, उसी सहजभावसे उसका अगला शिक्षण भी होना चाहिए। लड़का व्याकरण क्या चीज है, यह भले ही न जानता हो; लेकिन वह 'मां आया' नहीं कहता। कारण, वह व्याकरण समझता है। वह 'व्याकरण' शब्द भले न जानता हो या उसे व्याकरणकी परिभाषा भले ही न मालूम हो; परंतु व्याकरणका मुख्य कार्य तो हो चुका है। साध्य और साधनको उलट-पुलट नहीं करना चाहिए। साध्यके लिए साधन होते हैं, साधनके लिए साध्य नहीं। यही बात तर्कशास्त्रपर भी लागू होती है। गौतमके न्यायसूत्र अथा एरिस्टाटलका तर्कशास्त्र पढ़नेका क्या अभिप्राय है? यही

कि हम व्यवस्थित विचार कर सकें; अचूक अनुमान कर सकें। दीया जब मंद होने लगता है, तब छाटा लड़का भी अंदाज करता है कि शायद उसमें तेल नहीं है। उसके दिमागमें सारा तर्क होता है। हां,इतना अवश्य है कि वह 'पंचावयवी वाक्य' या 'सिलाजिज्म' नहीं बना सकता। विद्यार्थी के भीतर तर्क-शक्ति स्वभावतः होती है। शिक्षण का कार्य केवल ऐसे अवसर उपस्थित करना है, जिससे उस तर्क-शक्तिको समय-समयपर खाद्य मिलता रहे। सारे शास्त्र, सब कलाए, तमाम सद्गुण, मनुष्यमें बीजतः स्वयंभू है। हम उस बीजको देख नहीं सकते। लेकिन वह दिखाई नहीं देता, इसलिए उसका अभाव तो नहीं है ?

परंतु कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि रूसोको यह मत पसंद नहीं है। "मनुष्य स्वभावतः दुर्बल है, अनीतिमान है; शिक्षणसे उसे बलवान या नीतिमान बनाना है। स्वभावसे वह पशु है; उसे मनुष्य बनाना है। **'पापोऽहं पापकर्माहं पापात्मा पापसम्भवः'** यह उसका पूर्व-रूप है। उसका उत्तर-रूप शिक्षणसे संपन्न होनेवाला है"—इस आशयकी भाषाका प्रयोग वह कभी-कभी करता है। इसकें विरुद्ध आशयके वाक्य भी उसके ग्रंथोंमें पाये जाते हैं। इसलिए उसका अमुक ही मत है, यह कहना कठिन है। तथापि उसका ऊपर लिखे अनुसार मत हो, तो भी उसमें उसका विशेष दोष नहीं है; बल्कि उसके जमाने को परिस्थिति का दोष है, ऐसा कहा जा सकता है। स्वतंत्र बुद्धि के लोग भी एक हदतक, यदि परिस्थितिके गुलाम नहीं होते, तो कम-से-कम परिस्थिति द्वारा गढ़े जाते हैं। और फिर रूस के जमानेके फ्रांसकी स्थिति कैसी भीषण थी ! भारतमें आज जिस प्रकार इकतीस करोड़ जंतुओंका भयानक दृश्य नजर आ रहा है, उसी तरह की हालत उस वक्तके फ्रांसकी थी। इसलिए यदि रूसो-जैसे ज्वालामुखी,ज्वलंत और अतिशय उत्कटमनुष्य का भावनामय एवं विकारीहृदय मनुष्य-जातिके प्रति घृणासे परिपूर्ण हो गया हो, तो वह क्षम्य है। गुलामी देखते ही वह खीझ जाता था। उसका खून खौलने लगता था। वह आपेसे बाहर होजाता था। ऐसी स्थितिमें मनुष्य-जातिके प्रति घृणाके कारण यदि उसका यह मत हो गया हो कि मनुष्य एक जानवर है और उसमें शिक्षणसे थोड़ी-बहुत इन्सानियत आती है, तो हम उसका तात्पर्य समझ सकते हैं। लेकिन रूसोके साथ हमें कितनी

ही सहानुभूति क्यों न हो, तो भी इस प्रकार का—चाहे किसी ने किसी भी परिस्थितिमें प्रतिपादन किया हो—अनुचित है, इसमें संदेह नहीं। मनुष्य स्वभावतः दुष्ट है, ऐसा माननेमें निखिल मनुष्य-जातिका अपमान है और निराशावादकी परमावधि है। अगर मनुष्य स्वभावसे ही दुष्ट हो, तो शिक्षणकी कोई आशा नहीं हो सकती। वस्तुसे उसका स्वभाव सदाके लिए पृथक करना तर्क-दृष्टिसे असंभव है। इसलिए यदि मनुष्य-स्वभाव अपने असली रूपमें दुष्ट ही हो, तो उसे सुधारनेके सारे प्रयत्न अकारथ जायँगे और निराशावादका तथा उसके साथ-साथ पशुवृत्तिका साम्राज्य शूरू होजायगा। क्योंकि आशा नष्ट होते ही दंडका राज्य स्थापित हो जाता है। कुछ लोग जोशमें आकर कहा करते हैं कि ब्रिटिश सरकारपरसे हमारा विश्वास सदाके लिए उठ गया। सुदैवसे यह सिर्फ जोशकी भाषा होती है। परंतु, यदि यह सच होता, तो किसी भी शांतिमय आंदोलनका अर्थ निराशाका कर्म-योग ही होता। स्वावलंबनकी दृष्टिसे यह कहना ठीक है कि हमें सरकारके भरोसे नहीं रहना चाहिए। लेकिन यदि इसका यह अर्थ हो कि हमें यह निश्चय हो गया है कि अंग्रेजोंके हृदय नहीं है, उनकी कभी उन्नति ही नहीं हो सकती, तब तो निःशस्त्र आंदोलन केवल एक लाचारीका चारा हो जाता है। क्या सत्याग्रह का और क्या शिक्षणका मुख्य आधार ही यह मूलभूत कल्पना है कि प्रत्येक मनुष्यके आत्मा है। जिस प्रकार शत्रुके आत्मा नहीं है, यह सिद्ध होते ही सत्याग्रह बेकार हो जाता है, उसी प्रकार मनुष्य स्वभावतः दुष्ट है, यह साबित होते ही शिक्षणकी प्रायः सारी आशा ही नष्ट हो जाती है। फिर तो 'छड़ीपड़े छम-छम, विद्या आवे झम-झम' शिक्षाका एकमात्र सूत्र होगा। इसलिए विद्वान् तत्त्वज्ञों और शिक्षण-वेत्ताओंने भी यह शास्त्रीय सिद्धांत मान लिया है कि मनुष्यके मनमें पूर्णताके सारे तत्त्व बीज-रूपमें स्वतः-सिद्ध हैं।

यह शास्त्रीय सिद्धांत स्वीकार करनेपर जिस प्रकार आजकी जिद्दी शिक्षा-पद्धति गलत साबित होती है, उसी प्रकार शिक्षाका कार्य नागरिक बनाना है; इस चालके आत्म-संभावित तत्त्व भी निराधार सिद्ध होते हैं। हम कुछ-न-कुछ शिक्षणदेते हैं, लड़कोंके दिलोंपर किसी-न-किसी बातका असर होता है और

उस परिणाम का तथा हमारे शिक्षणका समीकरण करके 'अस्माकमेवायं विजयः, अस्माकमेवायं महिमा' ऐसा कहकर हम नाचने लगते हैं। यह मानवीय मूर्खताकी महिमा है। ऊपर कहा जा चुका है कि शिक्षणकी रचना ऐसी होनी चाहिए जिससे कि विद्यार्थीको यह मालूम भी न पड़े कि वह शिक्षण ले रहा है। लेकिन इसके लिए साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि शिक्षकके दिलमें ऐसी धुंधली और मंद भावना भी न हो कि वह विद्यार्थियोंको शिक्षण दे रहा है। जबतक गुरु अनन्य और सहज-शिक्षक नहीं होगा, तबतक विद्यार्थियोंको सहज-शिक्षण मिलना असंभव है। जब कहा जाता है कि 'हम तो फ्रोबेल, पैस्टलॉजी या मौंटेसरीकी पद्धतिसे शिक्षण देते हैं', तब साफ समझ लेना चाहिए कि यह केवल वाचिक श्रम है, यह शब्द-शिक्षण है, यह किसी पद्धतिकी अर्थ-शून्य नकल है, यह शव है; इसमें जान नहीं है। शिक्षण कोई बीजगणितका सूत्र (फॉर्म्यूला) थोड़े ही है कि सूत्र लगाते ही फौरन उत्तर आ जाय। जो दिया जाता है, वह शिक्षण ही नहीं है और न शिक्षण देनेकी पद्धति, पद्धति है। जो अन्दर है वह सहजभावसे प्रकट होता है—इस तरहसे जो प्रकट होता है, वही शिक्षण है। यही सहज-शिक्षण—'सदोषमपि'—सदोष भले ही हो, तो भी, अच्छा है। परंतु किसी विशिष्ट पद्धतिके गुलामोंके द्वारा प्राप्त होनेवाला व्यवस्थित अज्ञान हमें नहीं चाहिए।

आखिर शास्त्र क्या चीज है? 'शास्त्र' बराबर है 'व्यवस्थित अज्ञानके'। इसके सिवा इन शास्त्रोंका कोई अर्थ भी है? शिक्षण-शास्त्रवेत्ता स्पेंसर शिक्षण-शास्त्रपर लिखते हुए कहता है कि शिक्षणसे अलौकिक व्यक्ति बनते नहीं हैं। ऐसे शास्त्रोंकी शास्त्र-दृष्टिसे क्या कीमत हो सकती है? **'एतत् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत'** जैसी शास्त्रकी प्रतिज्ञा होनी चाहिए। जो शास्त्र ऐसी प्रतिज्ञा नहीं कर सकता, वह शास्त्र लोगोंकी आंखोंमें धूल झोंकनेंका व्यवस्थित प्रयास मात्र है। शेक्सपीयरने कौन-से नाट्य-शास्त्रका अध्ययन किया था? अलंकार-शास्त्रके नियम रटकर क्या कभी कोई प्रतिभावान कवि—या काव्य-रसिक भी—बना है? शास्त्र-पद्धति, इन शब्दोंका शब्द-सृष्टिसे बाहर कुछ अर्थ ही नहीं होता। यह महज भ्रम है। **'यास्तेषां स्वैर कथास्ता एव भवंति शास्त्राणि'**—'महापुरुषोंकी स्वैर-कथाएं ही शास्त्र हैं'—भर्तृहरिका यह एक

मार्मिक वचन है। यहांपर भी वही लागू होता है। 'जो किसी भी पद्धतिके बिना सुव्यवस्थित होता है, जिसे कोई भी गुरु दे नहीं सकता, परंतु जो दिया जाता है'—ऐसा है शिक्षणका अनिर्वचनीय स्वरूप। इसलिए दिव्यदृष्टिवाले महात्माओंने कहा कि शिक्षण कैसे दिया जाता है, हम नहीं जानते। **'न विजानीमः'** (केनोपनिषत्)। शिक्षण-पद्धति, पाठ्यक्रम, समय-पत्रक, ये सब अर्थ-शून्य हैं। इनमें सिवा आत्म-वंचनाके और कुछ नहीं धरा है। जीनेकी क्रियामेंसे ही शिक्षण मिलना चाहिए। शिक्षण जब जीनेकी क्रियासे भिन्न एक स्वतंत्र क्रिया बनती है, उस वक्त शरीरमें विजातीय द्रव्य घुसनेसे जैसा परिणाम होता है, वैसा ही जहरीला और रोगोत्पादक परिणाम हमारे मनपर होता है। कर्मकी कसरतके बिना ज्ञानकी भूख नहीं लगती। और वैसी हालतमें जो ज्ञान विजातीय द्रव्यके रूपमें अंदर घुसता है,उसे हजम करनेकी ताकत पचनेंद्रियोंमें नहीं होती। सिर्फ भेजेमें किताबें ठूंस देनेसे अगर मनुष्य ज्ञानी बन जाता, तो पुस्तकालयकी आलमारियां ज्ञानी मानी जातीं। लालचसे खाये हुए ज्ञानका अपचन होता है और बौद्धिक पेचिश हो जाती है। और अंतमें मनुष्यकी नैतिक मृत्यु होती है।

जो नियम विद्यार्थियोंके शिक्षणपर लागू है, वही लोक-शिक्षण या लोक-संग्रहपर भी घटित होता है। महापुरुषोंकी दृष्टिसे सारा समाज एक बहुत बड़ा शिशु है। "भीष्माचार्य आमरण ब्रह्मचारी रहे। किंतु बिना पुत्रके तो सद्गति नहीं होती, ऐसा सुनते हैं। तब भीष्माचार्यको सद्गति कैसे मिली होगी?" ऐसी बेहूदी शंका पेश होनेपर उसका समाधान इस प्रकार किया गया कि भीष्माचार्य सारे समाजके लिए पिताके समान होनेके कारण हम सब उनके पुत्र ही हैं। इसलिए लोक-संग्रहका प्रश्न महापुरुषोंकी दृष्टिसे बालकोंके शिक्षणका ही प्रश्न है। परंतु शिक्षणके प्रश्नकी तरह लोक-संग्रहका भी नाहक हौवा बनाकर ज्ञानी पुरुषकी यह एक भारी जिम्मेवारी है, ऐसा कहनेका रिवाज चल पड़ा है। लोक-संग्रह किसी व्यक्तिके लिए रुका नहीं है। लोक-संग्रह मुझपर निर्भर है, ऐसा मानना गोया टिटहरीका यह मानकर कि मेरे आधारपर आकाश स्थित है, खुदको उलटा टांग लेनेके बराबर है। 'कर्ताहम्' 'मैं कर्ता हूं', यह अज्ञानका लक्षण है, ज्ञानका नहीं। यहांतक कि जहां 'कर्ताहम्' यह भावना जाग्रत

है, वहां यथार्थ कर्तृत्व ही नहीं रह सकेगा। शिक्षण जिस प्रकार अभावात्मक या प्रतिबंध—निवारणात्मक कार्य है, उसी प्रकार लोक-संग्रह भी है। इसीलिए श्रीमच्छंकराचार्यने **'लोकस्य उन्मार्ग-प्रवृत्ति-निवारणं लोक-संग्रहः'** ऐसा लोक-संग्रहका निवर्तक स्वरूप दिखलाया है।

जिस प्रकार सच्चा शिक्षक शिक्षा नहीं देता, उससे शिक्षण मिलता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी लोक-संग्रह करेगा नहीं, उसके द्वारा लोक संग्रह होगा। सूर्य प्रकाश देता नहीं है, उससे स्वाभाविकरूपसे प्रकाश मिलता है। इसी अभावात्मक कर्मयोगको गीताने सहजकर्म कहा है और मनुने इसी सहजकर्मको 'निवृत्तकर्म' यह सुंदर संज्ञा दी है। 'निवृत्त-शिक्षण' यह संज्ञा भी उसी ढंगपर गढ़ी गई है। जो ऐसा निवृत्त-शिक्षण देते हैं, वे आचार्य ही समाजके गुरु हैं। वे ही समाजके पिता हैं। दूसरे 'भाड़ेके गुरु' गुरु नहीं और 'जन्म-हेतु-पिता' पिता नहीं है। ऐसे गुरुओंके चरणोंके निकट बैठकर जिन्होंने शिक्षा पाई है, वे ही मातृमान, पितृमान, आचार्यवान कहलानेके गौरवके पात्र हैं। अन्य सब अनाथ बालक हैं। सब अशिक्षित हैं। ऐसा उदार शिक्षण कितनोंके भाग्यमें लिखा होता है?

(महाराष्ट्र धर्म : जनवरी, १९२३)

: ४ :

चार पुरुषार्थ

मनुष्यके अंतःकरणकी सूक्ष्म भावनाओंकी दृष्टिसे समाज-रचनाका गहरा अध्ययन करके हमारे ऋषियोंने अनेक सुंदर कल्पनाओंका आविष्कार किया है। **'अनंतं वै मनः। अनंता विश्वेदेवाः'**—मनकी अनंत वृत्तियां होनेके कारण विश्वमें भी अनंत शक्तियां उत्पन्न होती हैं। इन अनंत मानसिक वृत्तियों और सामाजिक शक्तियोंका संपूर्ण साक्षात्कार करके ऋषियोंने धर्मकी रचना की है। स्वयं ऋषि ही कहते हैं—**'ऋषिः पश्यन् अबोधत्'**। योग-शास्त्रमें योगीकी 'अर्धोन्मीलित' दृष्टिका वर्णन किया गया है। इसका रहस्य है—विश्वमें ओतप्रोत शक्तियोंके अवलोकन तथा निरीक्षणके लिए आधी दृष्टि खुली रहे और अपने हृदयमें सन्निहित वृत्तियों के परीक्षणके लिए आधी दृष्टि भीतरकी तरफ मुड़ी

रहे। कालके कराल जबड़ेमें पिसनेवाले दीन जनों के प्रति करुणासे आधी दृष्टि खुली हुई और अंतर्यामी परमेश्वरके प्रेम-रसके पानसे मतवाली होनेके कारण आधी दृष्टि मुंदी हुई ! योगी ऋषियोंकी इस अर्धोन्मीलित दृष्टिने अंतर्बाह्य सारी सृष्टिके दर्शन कर लिये थे। इसीसे हिंदू-धर्म अनेक आश्चर्यकारक कल्पनाओंका भंडार बन गया है। अर्जुनके अक्षय तरकसमें बाणोंकी कमी होती ही न थी। उसी तरह हिंदूधर्म-रूपी महासागरमें छिपे हुए रत्न कभी खतम ही नहीं हो सकते। ऋषियोंकी इन मनोहर कल्पनाओंमें चतुर्विध पुरुषार्थकी कल्पना भी एक ऐसा ही रमणीय रत्न है।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ बतलाये गये हैं। इनमेंसे मोक्ष और काम दो परस्पर-विरोधी सिरोंपर स्थित हैं। प्रकृति और पुरुष या शरीर और आत्मामें अनादि कालसे संघर्ष चला आ रहा है। वेदोंमें जो वृत्र और इंद्रके युद्धका वर्णन है वह इसी सनातन युद्धका वर्णन है। 'वृत्र'का अर्थ है ज्ञानको ढक देनेवाली शक्ति। 'इंद्र' संज्ञा परोक्ष संकेतकी द्योतक है और उस अर्थको सूचित करनेके ही लिए खासकर गढ़ी गई है। 'इदम्'–'द्र' या 'विश्वद्रष्टा' 'इंद्र' शब्दका प्रत्यक्ष अर्थ है। यह है उसका स्पष्टीकरण। ज्ञानको ढांकनेकी कोशिश करनेवाली और ज्ञानका दर्शन करनेकी चेष्टा करनेवाली, इन दो शक्तियोंका अर्थ क्रमशः जड़, शरीरात्मक, भौतिक शक्ति और चेतन, ज्ञानमय, आत्मिक शक्ति है। इन दोनोंमें सदा संघर्ष होता रहता है और मनुष्यका जीवन इस संघर्षमें फंसा हुआ है। ये दोनों परस्पर-विरोधी तत्त्व एक ही व्यक्तिमें काम करते हैं, इसलिए मनुष्यका हृदय इनके युद्धका 'धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र' हो गया है। आत्माको मोक्ष-पुरुषार्थकी अभिलाषा होती है, शरीरको काम-पुरुषार्थ प्रिय है। दोनों एक-दूसरेका नाश करनेकी ताकमें हैं।

मोक्ष कहता है, "काम आत्माकी जान लेनेपर तुला हुआ उसका कट्टर बैरी है। उसे मार डालो—निष्काम बनो। यह बड़ा मायावी और स्नेही मालूम होता है। लेकिन इसके प्रेमके स्वांगपर मोहित होकर धोखा न खाना। यह जितना कोमल दीखता है उतना ही क्रूर है। इसके दिखानेके दांत प्रेममय हैं, पर खानेके दांत क्रोधसे भरे हुए। ऊपर-ऊपरसे यह चैतन्यरससे परिपूर्ण बालकोंको जन्म

देता हुआ दिखाई देता है। लेकिन यह वास्तविक नहीं है। "यह बूढ़ी महतारी अबतक मरती क्यों नहीं" इसीकी इसे हमेशा फिक्र रहती है। याद रहे कि लड़केको जन्म देनेका अर्थ है पिताकी मृत्युकी तैयारी करना। अगर आपकी यह इच्छा होती कि आपके बाप-दादा, आपके पुरखा, जीवित रहें, तो क्या आप लड़के और नाती-पोते पैदा करते ? क्या आपको पता नहीं कि इतने आदमियोंका प्रचंड 'लोकसंग्रह' या मनुष्योंका ढेर पृथ्वी संभाल नहीं सकती ? आप इतना भी नहीं जानते ? "मां तो मरने ही वाली है, वह हमारे वशकी बात नहीं," यह कह देनेसे काम नहीं चलेगा। हम यह नहीं भुला सकते कि माताकी मृत्युकी अवश्यं-भाविता स्वीकार करके ही पुत्रका उत्पादन किया जाता है। इसीलिए तो जन्मका भी 'सूतक' (जननाशौच) रखना पड़ता है। चैतन्यरससे भरे बालकको उत्पन्न करने-का श्रेय अगर आपको देना हो, तो उसी रससे ओतप्रोत माताको मार डालनेका पातक भी उसीके मत्थे होगा। उत्पत्ति और संहार, काम और क्रोध, एक ही छड़ीके दो सिरे हैं। 'काम' कहते ही उसमें 'क्रोध'का अंतर्भाव हो जाता है। इसीलिए अहिंसक वृत्तिवाले सत्पुरुष संहार-क्रियाकी तरह उत्पत्तिकी क्रियामें भी हाथ नहीं बटाते। सच तो यह है कि बालकका चैतन्यरस कामका पैदा किया हुआ होता ही नहीं। जिस गंदे अंगरेजसे मलिन होनेमें मां-बाप अपने-आपको धन्य मानते हैं वह रजोरस इसका पैदा किया हुआ होता है। कारण, इसका अपना जन्म ही रजोगुणकी धूल (रज) से हुआ है। आप अगर इसके मनोरथ पूरे करनेके फेरमें पड़ेंगे तो यह कभी अघायेगा ही नहीं, इतना बड़ा पेटू है। जिस-जिसने इसे तृप्त करनेका प्रयोग किया वे सभी असफल हुए। उन सबको यही अनुभव हुआ कि कामकी तृप्ति कामोपभोग द्वारा करनेका यत्न स्वयं क्षत्रिय बनकर पृथ्वीको निःक्षत्र करनेके प्रयासकी तरह व्याघातात्मक या असंगत है। इसे चाहे जितना भोग लगाइए, सब आगमें घी डालने-जैसा ही होता है। इसकी भूख बढ़ती ही जाती है। अन्नदाता ही इसका सबसे प्यारा खाद्य है और उसे खानेमें इसे निःसंदेह भस्मासुरसे भी बढ़कर सफलता मिलती है। इसलिए इस कामासुरको वरदान देनेकी गलती न कीजिए।

इसकी ठीक उलटी बात काम कहता ह। वह भी उतनी ही गंभीरतासे

कहता है—"मोक्षके चक्करमें आओगे तो नाहक अपना कपाल-मोक्ष (कपाल-क्रिया) करा लोगे। याद रखो, वेदांतकी ही बदौलत हिंदुस्तान चौपट हुआ है। यह तुम्हें स्वर्गसुख और आत्म-साक्षात्कारकी मीठी-मीठी बातें सुनाकर भुलावेमें डालेगा। लेकिन यह इसकी खालिस दगाबाजी है। ऐसे काल्पनिक कल्याणके पीछे पड़कर ऐहिक सुखको जलांजलि देना बुद्धिमानीकी बात नहीं है। 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंकी चर्चा यदि कोई घड़ीभर मनोविनोदके लिए भोजनके अनंतर नींद आनेसे पहले या नींद आनेके लिए करे तो उसकी वह क्रीड़ा क्षम्य मानी जा सकती है। परंतु,यदि कोई खालीपेट यह चर्चा करनेका हौसला करेगा, तो वह याद रक्खे कि उसे व्यावहारिक 'तत्त्वमसि' (पैसे)की ही शरण लेनी होगी। चांदनी बिलकुल आटे-जैसी सफेद भले ही हो, परन्तु उसकी रोटियां नहीं बनतीं। और तो कुछ नहीं; मोक्षकी चिंताकी बदौलत जीवनका आनंद खो बैठोगे। इस विश्वके विविध विषयोंका आस्वाद लेनेके लिए तुम्हें इंद्रियां दी गई हैं। लेकिन यदि तुम 'जगन्मिथ्या' मानकर इंद्रियोंको मारनेका उद्योग करते रहोगे तो आत्मवंचना करोगे और आखिर तुम्हें पछताना पड़ेगा। पहले तो जो आंखोंको साफ-साफ नजर आता है उस संसारको मिथ्या मानो और फिर जिसके अस्तित्वके विषयमें बड़े-बड़े दार्शनिक भी सशंक है, वैसी 'आत्मा' नामक किसी वस्तुकी कल्पना करो, इसका क्या अर्थ है ? वेदोंने भी कहा है, **'कामस्तदग्रे समवर्तत'**—सृष्टिकी उत्पत्ति कामसे हुई। और इसका अनुभव तो सभीको है। यदि दरअसल ईश्वर जैसी कोई वस्तु हो तो भी कल यदि सभी लोग निष्काम होकर ब्रह्मचर्यका पालन करने लगें, तो जिस सृष्टिको उत्पन्न होनेसे बचानेके लिए यही परमेश्वर समय-समयपर अवतार धारण करता है उसका पूरा-पूरा विध्वंस हुए बिना न रहेगा। 'मोक्ष'के माने अगर आत्यंतिक सुख हो तो सरल भाषामें उसका अर्थ चिरंतन कामोपभोग ही हो सकता है।"

यह है कामकी दलील।

संपूर्ण त्याग और संपूर्ण भोग, ये परस्पर-विरोधी दो ध्रुव हैं। एक कहता है शरीर मिथ्या है, दूसरा कहता है आत्मा झूठी है। दोनोंको एक-दूसरेकी परवाह नहीं, दोनों पूरे स्वार्थी हैं। लेकिन आत्मा और शरीर दोनोंका मिलन मनुष्यमें

हुआ है। इसलिए इस तरह दोनों पक्षमें अपने ही सगे-संबंधी देखकर अर्जुनके लिए आत्मनिर्णय करना असंभव हो गया उसी तरह कर्मयोगके धर्मक्षेत्रमें अपने स्नेही-संबंधियोंको दोनों विपक्षोंसे संलग्न देखकर मनुष्यके लिए किसी भी एक पक्षके अनुकूल स्थायी और निश्चित निर्णय देना कठिन हो जाता है। मनकी द्विधा स्थिति हो जाती है और एक मन शरीरका पक्ष लेता है, दूसरा आत्माकी हिमायत करता है। मनुष्यका जीवन अ-शरीर आत्मा और आत्महीन शरीरकी संधिपर आश्रित है, इसलिए उसे शुद्ध आत्मवाद या मोक्ष-पूजा पचती नहीं, और शुद्ध जड़वाद या कामोपासना रुचती नहीं। इन दोनों मंत्रोंमें अद्वैत कायम करना, या उनका सामंजस्य करना बड़े कौशलका काम है। यह कर्म करनेकी चतुराई या 'कौशल' ही जीवनका रहस्य है।

यदि देहासक्त या नीचेवाले मनको 'मन' और आत्म-प्रवण या ऊपरवाले मनको 'बुद्धि' नाम दिया जाय, तो 'मन' और 'बुद्धि'में एकता करके व्यवहार करना चाहिए। 'त्वयाऽर्धम्—मयाऽर्धम्' यह गणितकी समता यहां किसी कामकी नहीं। "घरमें चार रोटियां हैं और दो लड़के हैं, तो हरेकको कितनी रोटियां दी जायं?" ऐसी त्रैराशिककी समता अगर माताएं सीखने लगें तो बड़ा अंधेर हो जाय। एक लड़का दो सालका है और दूसरा पच्चीस वर्षका। पहला अतिसारसे मरेगा और दूसरा भूखसे। ऐसे हिसाबी न्यायका अवलंबन करके आधा शरीरका संतोष आधा आत्माका संतोष करनेकी कोशिशसे यह मसला हल नहीं होगा। समताका अर्थ है योग्यताके अनुसार कीमत आंकना। गणित-शास्त्रमें अनंत के आगे चाहे जितनी बड़ी सान्त संख्या ली जाय तो भी उसकी कीमत अनंतके मुकाबिलेमें शून्य समझी जाती है। उसी तरह शरीरकी योग्यता कितनी ही बढ़ाई जाय, तो भी आत्माकी अनंत महिमाके मुकाबिलेमें वह शून्यवत् हो जाती है। इसलिए निष्पक्ष समताको आत्माके ही पक्षका समर्थन करना चाहिए।

यह हुआ एक पक्ष। इस पक्षकी दृष्टिमें शुद्ध आत्मपक्ष या आत्मवाद इष्ट है, परन्तु जबतक देहका बंधन है तबतक वह शक्य नहीं प्रतीत होता। पर 'संसार छोड़कर परमार्थ करनेसे खानेको अन्न भी नहीं मिलता', यही कथन बहुतेरे लोगोंके

दिमागमें---या यों कह लीजिए कि पेटमें---तुरत घुस जाता है। 'उदरनिमित्तम्' सारा ढकोसला होनेसे सभी चाहते हैं कि गुड़-खोपड़ेके नैवेद्यसे ही भगवान् संतुष्ट हो जायं। नामदेवका दिया हुआ नैवेद्य भगवान खाते नहीं थे, इसलिए वह वहीं धरना देकर बैठ गये। लेकिन इनका दिया हुआ गुड़-खोपड़ा यदि भगवान सच-मुच खाने लगें, तो भगवानको एकादशी व्रत रखानेके लिए यह नई मंडली सत्याग्रह किये बिना न रहेगी! ये आत्माको थोड़े-से संतुष्ट करना चाहते हैं। कारण कि अगर आत्माको बिलकुल ही संतोष न दिया जाय और केवल देहपूजाके धर्मका ही अनुसरण किया जाय तो उस देहपूजाके समर्थनके लिए नास्तिक तत्त्वज्ञानका पारायण करनेपर भी अंतरात्माका दंश बंद नहीं होता। इसलिए दोनों पक्षोंकी दृष्टिमें समझौता वांछनीय है। यह समझौता करानेका भार धर्म और अर्थने लिया है।

जब दो आदमी मार-पीट करके एक-दूसरेका सिर फोड़नेपर आमादा हो जाते हैं तब उनका टंटा मिटानेके लिए दोनों पक्षके लोग बीच-बचाव करने लगते हैं। उसी प्रकार आत्मवादी मोक्ष और देहवादी कामका झगड़ा मिटानेके लिए मोक्षकी तरफसे धर्म और कामकी तरफसे अर्थ ये दो पुरुषार्थ उपस्थित हुए हैं। अब, ये---कम-से-कम दिखानेको तो---समझौता करानेके लिए बीच-बचाव करते हैं, इसलिए निष्पक्ष वृत्ति या समझदारीके समझौतेका स्वांग करना उनके लिए लाजिमी हो जाता है। अतः उनकी भाषा दोनों पक्षोंको थोड़ी-बहुत खुश करनेवाली होनी चाहिए, और होती भी है। परंतु यद्यपि इन लोगोंको तकरार मिटानेकी बात करनी पड़ती है तथापि उनके दिलमें यह उत्कट इच्छा नहीं होती कि दोनों पक्षोंमेंसे किसीपर भी मार न पड़े। वे लहू-लुहान सिर देखना नहीं चाहते, मगर सिर्फ अपने पक्षका। यदि केवल शत्रु-पक्षके ही सिर फूटते हों तो उन्हें कोई परवाह न होती। लेकिन दुःखका विषय तो यह है कि शत्रु-पक्षके साथ-साथ अपने पक्षके सिरपर भी डंडे पड़ते ही हैं। इसीलिए झगड़ा तै करानेकी इतनी उत्सुकता होती है। सारांश, धर्म और काम यद्यपि टंटा मिटानेके लिए शांति-मंत्र जपते हुए बीच-बचाव करने आये हैं, तथापि वास्तवमें तो धर्मके मनमें यही इच्छा होती है कि कामका सिर अच्छी तरह कुचल दिया जाय, और अर्थ

भी सोचता है कि मोक्ष मर जाय तो अच्छा हो ! किसी भी एक पक्षका नाश होनेसे झगड़ा तो खतम होगा ही ! कई बार जो काम लड़ाईसे नहीं होता, वह सुलहसे हो जाता है । योद्धाओंकी तलवारकी अपेक्षा राजनीतिज्ञोंकी कलमको कभी-कभी सफलताका अधिक हिस्सा मिलता है । 'मोक्ष' और 'काम'को अगर योद्धा मानें तो 'धर्म' और 'अर्थ'को राजनीतिज्ञ कहना चाहिए । दोनों समझौता चाहते हैं; लेकिन धर्मकी यह कोशिश होती है कि संधिकी शर्तें मोक्षानुकूल हों, और अर्थकी यह चेष्टा होती है कि वे कामानुकूल हों । प्रत्येक चाहता है कि समझौता तो हो, लेकिन अपने पक्षकी कोई हानि न हो । यहां इस समझौतेका थोड़ा-सा नमूना ही दिखाया जा सकता है । उदाहरणके लिए—

मोक्ष ब्रह्मचारी और काम व्यभिचारी है । इस प्रकार ये दो सिरे हैं । धर्म कहेगा—"हमारा आदर्श ब्रह्मचर्य ही होना चाहिए, इसमें सदेह नहीं । उस आदर्शके पालनका जोरोंसे यत्न करना चाहिए । जब काम बहुत ही भूंकने लगे तब धार्मिक विधिके अनुसार गृहस्थ-वृत्ति स्वीकार कर, उसके आगे एकाध टुकड़ा डाल देना चाहिए । परंतु वहां भी उद्देश्य तो संयमके पालनका ही होना चाहिए और फिर तैयारी होते ही श्रेष्ठ आश्रममें प्रवेश करके उससे छुटकारा पाना चाहिए । ब्रह्मचर्यसे संसार उत्सन्न होगा, यह पापके समर्थनमें दी जानेवाली लचर दलील है । संसारके उत्पन्न होनेकी फिक्र आप न करें । उसके लिए भगवान पर्याप्त हैं । ब्रह्मचर्यसे सृष्टि नष्ट नहीं होगी, बल्कि मुक्त होगी । फिर भी संयमका पालन करनेके अभिप्रायसे गृहस्थ-वृत्ति स्वीकार करनेमें आपत्ति नहीं है । इसमें कामका भी थोड़ा-बहुत काम निकल जायगा । लेकिन इससे कब छुटकारा पाऊंगा, इसकी चिंता और चिंतन लगातार करते रहना चाहिये । इससे मोक्षकी भी पूर्व-तैयारी हो जायगी ।

अर्थ कहेगा—"अगर व्यभिचारको स्वीकृति दी जाय तो संसारकी व्यवस्थाका अंत हो जायगा । इसलिए वह न इष्ट है न संभव । परंतु, ब्रह्मचर्यका नियम तो एकदम निसर्ग-विरोधी है । वह अशक्य ही नहीं, अनिष्ट भी है । तब, बीचका गृहस्थ-वृत्तिका ही राजमार्ग शेष रहता है । इसमें थोड़ा-सा संयमका कष्ट जरूर है, लेकिन वह अपरिहार्य है । बुढ़ापेमें इंद्रियां जर्जरित हो जानेपर अनायास

ही त्याग हो जाता है। इसलिए यह त्यागकी शर्त अपरिहार्य होनेके कारण उसे मंजूर कर लेना चाहिए। इससे मोक्षको भी जरा तसल्ली होगी। लेकिन विवाहका बंधन अभेद्य माननेका कोई कारण नहीं है। विवाह हमारे सुखके लिए होते हैं; हम विवाहके लिए नहीं हैं। इसलिए हम विवाहके धर्मका स्वीकार नहीं करते, लेकिन विवाहकी नीति का स्वीकार कर सकते हैं।"

मोक्षकी दृष्टिमें अहिंसा परम धर्म है। पतंजलिने कहा है कि यह 'जाति-देश-काल-समय' आदि सारे बंधनोंसे परे 'सार्वभौम महाव्रत' है। इसके विपरीत कामका सिद्धांत-वाक्य **'ईश्वरोऽहमहं भोगी'** है। इसलिए उसका तो बिना हिंसाके निर्वाह ही नहीं हो सकता, क्योंकि साम्राज्यवादकी वृकोदर-वृत्तिकी इमारत हिंसाके ही पायेपर रची जा सकती है।

ऐसी स्थितिमें धर्म कहेगा—"कम-से-कम मानसिक हिंसा तो किसी हालतमें नहीं होने देनी चाहिए। शरीर-धर्मके रूपमें कुछ-न-कुछ हिंसा अनजाने भी हो ही जाती है। उसे भी कम करनेकी कोशिश करनी चाहिए। परंतु प्रयत्न करनेपर भी कमजोरीके कारण जो हिंसा बाकी रह जायगी उतनी क्षम्य समझी जाय। पर इसका यह अर्थ नहीं कि उतनी हिंसा करनेका हमें अधिकार है। किंतु उतनी के लिए हम परमेश्वरसे नम्रता-पूर्वक क्षमा मांगें और अपनी बुद्धि शुद्ध रक्खें। अगर क्षमा-वृत्ति असंभव ही हो, तो 'सौ अपराध माफ करूंगा', जैसा कोई व्रत लेकर हिंसाको आगे टाल देना चाहिए। इतना करनेपर भी हम अपनी वृत्तिको काबमें न रख सकें, हमारे अंतःकरणमें छिपा हुआ पशु अगर जाग ही उठे तो हम अपनेसे अधिक बलवान् व्यक्तिसे लोहा लें, कम-से-कम अपनेसे कम बलवान् को तो क्षमा करें। यह भी नामुमकिन हो तो अपने बचावके लिए हिंसा करें, हमला करनेके लिए नहीं। उसमें भी फिर हिंसाके साधन जहांतक हो सके सीधे-सादे और भुथरे हों। केवल शरीरसे ही द्वंद्व-युद्ध करें, हथियार काममें न लावें। सारांश, चाहे धर्म में हिंसाका स्थान भले ही न हो, लेकिन हिंसामें धर्म का स्थान अवश्य होना चाहिए।"

अर्थ कहेगा—"हिंसाके बिना संसारका चलना ही असंभव है। 'जीवो जीवस्य जीवनम्' सृष्टिका न्याय है। हमें उसे मानना ही पड़ेगा। लेकिन हिंसा

करना भी एक कला है। उस कलामें निपुणता प्राप्त किये बिना किसीको भी हिंसा नहीं करनी चाहिए। मुसलमानोंके राजमें जितनी गायोंकी हत्या होती थी उससे कई गुनी गायें अंग्रेजोंके राजमें कत्ल की जाती हैं, यह बात सरकारी आंकड़ोंसे साफ जाहिर है। लेकिन मुसलमान हिंसाकी कलाके पंडित नहीं थे इसलिए उनके खिलाफ इतना हो-हल्ला मचा, अंग्रेजोंसे किसीको खास चिढ़ नहीं होती। इसका कारण है हिंसाकी कला। इन्फ्लुएंजाने तीस करोड़ आदमियोंमेंसे थोड़े ही समयमें साठ लाख आदमियोंको खाकर अपने-आपको बदनाम कर लिया। वस्तुतः मलेरिया उससे अधिक आदमियोंका कलेवा कर लेता है। लेकिन धीरे-धीरे चबा-चबाकर खानेका आहार-शास्त्रका नियम उसे मालूम है, इसलिए वह बड़ा साहू ठहरा। नये चिकित्सा-विज्ञानका एक नियम है कि शीतोपचार और उष्णोपचार एकके बाद एक बारी-बारीसे करते रहना चाहिए। वही नियम हिंसापर भी लागू होता है। जबतक युद्धके पश्चात् शांति-परिषद् और शांति-परिषद्के बाद फिर युद्ध, यह क्रम भलीभांति जारी न किया जा सके तबतक हिंसा नही करनी चाहिए। चूनेपर ईंटे और ईंटोंपर चूना रख-रखकर दीवार बनाई जाती है, और फिर उसपर चूना पोता जाता है। उसी प्रकार शांतिके बाद युद्ध और युद्धके बाद शांतिके क्रमसे साम्राज्य कायम करके उस साम्राज्यपर फिर शांतिका चूना पोतना चाहिए। इसके बदले अगर केवल ईंटोंपर ईंटें ही जमाई जायं तो सारी ईंटें लुढ़ककर गिर जाती है। इसलिए दो हिंसाओंके बीच एक अहिंसाको स्थान अवश्य देना चाहिए। इतना समझौता कर लेनेमे कोई हर्ज नही।"

'अर्थमनर्थम् भावय नित्यम' यह मोक्षका सूत्र-वाक्य है। इसके विपरीत जहां कामोपभोग ही महामंत्र है वहां अर्थ-संचयका अनुष्ठान स्वाभाविक ही है। धर्मके मतसे 'न **वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः**'—मनुष्यकी तृप्ति अर्थसंचयसे कदापि नहीं हो सकती। इसलिए अर्थसंग्रह करना ही हो तो उसकी मर्यादा बना लेनी चाहिए। सृष्टिका स्वरूप 'अश्वत्थ' है। अर्थात् कलके लिए संचय उसके पास नहीं है। इसलिए मनुष्यको भी 'अश्वत्थ-संग्रह' रखना चाहिए। '**स एवाद्य स उश्वः**'—''वह आज भी है और कल भी है'', यह वर्णन ज्ञान-संग्रहपर

घटित होता है। इसलिए एक आदमी चाहे कितना भी ज्ञान क्यों न कमाये, उसके कारण दूसरेका ज्ञान नहीं घट सकता। परंतु द्रव्य-संग्रहकी यह बात नहीं है। मैं अगर पच्चीस दिनके लिए आज ही संग्रह करके रखता हूं तो मेरा व्यवहार चौबीस मनुष्योंका आजका संग्रह चुरानेके बराबर है, और इतने मनुष्योंको कम या अधिक मात्रामें भूखों मारनेका पाप मेरे सिर है। इसके अलावा, सृष्टिमें अधिक संग्रह ही न होनेके कारण इतना संग्रह करनेके लिए मुझे कुटिल मार्गका अवलंबन करना पड़ता है। एक बारगी संग्रह करनेमें मेरी शक्तिपर अतिरिक्त बोझ पड़ता है इसलिए मेरी वीर्य-हानि होती ही रहती है। इसके अतिरिक्त, इतना परिग्रह सुरक्षित रखनेकी चिंताके कारण मेरा चित्त भी प्रसन्न नहीं रह सकता। अर्थसंग्रहकी एक ही क्रियामें सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांचों व्रतोंका सामुदायिक भंग होता है।

इसलिए कम-से-कम, यानी केवल शरीर-निर्वाहके लिए ही, संग्रह करना चाहिए। वह भी—**'अंगानां मर्दनं कृत्वा श्रमसंजातवारिणा'**—"शरीर-श्रम द्वारा शरीरमेंसे पानी निकालकर"—करना चाहिए। केवल शरीर-श्रमसे शरीर-यात्रा चलानेसे पाप लगनेका डर नहीं होता—**'नाप्नोति किल्बिषम्'** यह भगवान् श्रीकृष्णका आश्वासन है। परंतु, जैसा कि कालिदासने रघुवंशके राजाओंका वर्णन करते हुए कहा है, उसमें भी त्यागकी वृत्ति होनी चाहिए। कारण, केवल तुम्हारा धन ही नहीं, तुम्हारा शरीर भी तुम्हारा निजका नहीं है; किंतु सार्वजनिक है, ईश्वरका है। सारांस, संग्रहका परिणाम अश्वत्थ या तात्कालिक, साधन शारीरिक श्रम, हेतु केवल शरीर-यात्रा और वृत्ति त्यागकी हो तो इतना भोग धर्मको मंजूर है। **'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः'**।

अर्थ की राय में—

"संसारमें जीवन-कलह चिरस्थायी है। जो योग्य होगा वह टिकेगा; जो अयोग्य होगा उसका नाश होगा। इसलिए सबका सुभीता देखनेका प्रयास व्यर्थ है। इसके अलावा, विश्वका विस्तार अनंत है। उसका एक जरा-सा ही हिस्सा हमारे काबूमें आ पाया है। भौतिक शास्त्रों (विज्ञान) की ज्यों-ज्यों उन्नति होगी त्यों-त्यों हमारा प्रभुत्व भी अधिक विस्तृत होनेकी संभावना है। इसलिए

अगर हम सबकी सुविधा देखनेकी अनावश्यक जिम्मेदारी स्वीकार कर भी लें, तो भी उसे पूरी करनेका एकमात्र उपाय हमारा अपना संग्रह कम करना नहीं है। सबके सामुदायिक संग्रहकी वृद्धि करनेका एक दूसरा रास्ताभी हमारे लिए अभी खुला है। और वही पौरुष का रास्ता है। सृष्टि में अक्षय भण्डार भरा हुआ है। पर हमें उसका पूरा ज्ञान नहीं है। इसलिए वज्ञानिक आविष्कारोंकी दिशामें प्रयत्न जारी रखकर भविष्यके लिए संग्रह करने में कोई हर्ज नहीं है—बल्कि, संग्रह करना कर्तव्य है। मनुष्यकी जरूरतें जितनी बढ़ेंगी उतना ही व्यापारको उत्तेजन मिलेगा और संपत्ति बढेगी। इसलिए संग्रह अवश्य करना चाहिए।

"लेकिन बिलकुल ही एकांतिक स्वार्थ ठीक नहीं होगा। कारण कि मनुष्य समाजबद्ध है इसलिए उसे दूसरोंके स्वार्थका भी विचार करना ही पड़ता है। संसारकीरोटीको स्वादिष्ट बनानेके लिए स्वार्थके आटेमें थोड़ा-सा परार्थका नमक भी मिलाना जरूरी हो जाता है। लेकिन याद रहेकि आटेमें नमक मिलाना है, न कि नमकमें 'आटा'। स्वार्थके गालपर परार्थका तिल बना देनेसे शोभा बढ़ जाती है। लेकिन तिलके बराबर बिंदी लगाना एक बात है और सारे गालमें काजल पोत लेना दूसरी बात है। परार्थके सिद्धांतको अगर अनावश्यक महत्त्व दिया जायगा तो परावलंबनको प्रोत्साहन मिलेगा। स्वार्थ स्वावलंबनका तत्त्व है। स्वार्थमय जीवन-संग्राममें जो दुर्बल ठहरेंगे उन्हें मरना ही चाहिए। और दुर्बलोंको मारनेमें अगर हम कारणीभूत हों, तो वह दूषण नहीं है किंतु भूषण ही है।

"एक दृष्टिसे तो दान करना दूसरोंका अपमान करनाहै। प्याऊ खोलनेमें पुण्य माना जाता है, लेकिन स्वयं धर्म-शास्त्रोंने ही कहा है कि प्याऊपर पानी पीनेवाला पापका भागी होता है। इसका क्या मतलब है? क्या प्याऊ इसलिए होती है कि लोग उसका पानी ही न पियें? दूसरोंको पानी पिलानेसे उन्हें हमारे पापका अंश मिलेगा और हमारा पाप कुछ अंशमें घटेगा, इस विचारमें कहांतक उदारता है? और फिर यह देखिए कि मैं लोगोंकी चिंता करूं और लोग मेरी चिंता करें, इस तरहका द्राविड़ी प्राणायाम करनेके बदले क्या यही श्रेयस्कर नहीं है कि हर एक अपनी-अपनी फिक्र करे? शहरोंमें फूहड़ स्त्रियां अपने बच्चोंको

रास्तेपर शौच कराती हैं। लेकिन मजा यह कि अपने घरकी अगल-बगलमें गंदगी न हो, इसलिए अपने बच्चोंको दूसरोंके घरोंके सामने बैठाती हैं। और दूसरे भी प्रतियोगी-सहयोगके सिद्धांतके अनुसार उसके घरके सामने बैठाते हैं! इसके बदले सीधे अपने बच्चेको अपने घरके सामने बैठाये तो क्या हर्ज है ? यह परार्थका तत्त्व भी इसी कोटिका है। इसलिए मनुष्यताका अपमान करनेवाली यह परार्थ-वृत्ति त्यागकर हर एकको स्वार्थ-साधना करते रहना चाहिए। दूसरेकी बहुत अधिक चिंता नहीं करनी चाहिए। सहानुभूतिके सुखके लिए या दूरदर्शी स्वार्थकी दृष्टिसे, तात्कालिक सुखका त्याग क्वचित् करना पड़ता है। उतना समझौता जरूर कर लेना चाहिए।"

काम, क्रोध और लोभ ये तीन नरकके दरवाजे माने है। इसलिए मोक्षका मुख्य आक्रमण इन्हींपर होना स्वाभाविक है। इसलिए इन तीनोंके विषयमें, समझौतेकी दृष्टिसे, धर्म और अर्थका क्या रुख हो सकता है, इसका विचार अबतक किया गया। आखिर काम भी एक पुरुषार्थ ही है। इसलिए उसका जो चित्र यहां खींचा गया है, वह शायद कुछ लोगोंको अतिरंजित मालूम होगा। लेकिन है वह बिलकुल वस्तु-स्थितिका निदर्शक। "स्वर्गकी गुलामीकी अपेक्षा तो नरकका अधिराज्य श्रेयस्कर है", मिल्टनके शैतानका यह वाक्य भी इसी अर्थका द्योतक है। 'पुरुषार्थ' का अर्थ है पुरुषको प्रवृत्त करनेवाला हेतु। यह आवश्यक नहीं कि यह हेतु 'सद्धेतु' ही हो। हिंदू-धर्मने कामको भी पुरुषार्थ माना है। इसका यह अर्थ नहीं है कि उसने कामपर मान्यता (स्वीकृति) की मुहर लगा दी हो। वहां तो इतना ही अर्थ है कि काम भी मनुष्यके मनमें रहनेवाली एक प्रेरक शक्ति है। आत्मवान् पुरुष शायद उसे स्वीकार भी न करे। इसके विपरीत 'मोक्ष'-की गिनती भी 'पुरुषार्थों' में करके हिंदू-धर्मने उसपर शक्यताकी मुहर नहीं लगाई है। वहां भी इतना ही अभिप्रा ' है कि मोक्ष भी मानवीय मनकी एक प्रेरक शक्ति है। देहधारी पुरुषके लिए उसकी आज्ञा मानना शायद असंभव भी हो।

शास्त्रकारोंने तो केवल मनुष्यकी अत्युच्च और अतिनीच प्रेरणाओंकी तरफ संकेत मात्र किया है। मोक्ष परम पुरुषार्थ है, इसलिए इच्छा यह है कि मनुष्य उसकी तरफ अग्रसर हो। और काम अधम पुरुषार्थ है, इसलिए इरादा

यह है कि जहांतक हो सके,उसकी शकल ही न देखी जाय। लेकिन इन दोनोंका मिलाप करनेकी प्रेरणा होना मनुष्यके लिए स्वाभाविक है। इसलिए धर्म और अर्थ नित्यकी दो प्रेरणाएं कही गई हैं। मनुष्यको संतोष देनेकी चेष्टा करनेवाले ये दो मध्यस्थ हैं। संस्कार-भेदसे किसीको धर्म प्रिय होगा, किसीको अर्थ प्यारा लगेगा।

वल्लभाचार्यकी व्यवस्थाके अनुसार सृष्टिके तीन विभाग होते हैं—(१) पुष्टि, (२) मर्यादा और (३) प्रवाह। जो आत्म-साक्षात्कारका अमृत पीकर पुष्ट हो गये हैं, मोक्ष-शास्त्रके ऐसे उपासक पुष्टिकी भूमिकापर विहार किया करते हैं। मायानदीके प्रवाहमें बहे जानेवाले काम-शास्त्रके अनुयायी प्रवाह-पतित वासनाओंके गुलाम होते हैं। ये दोनों तरह के व्यक्ति समाज-शास्त्रकी मर्यादासे परे हैं। काम-कामी पुरुष समाजके सुखका विचार ही नहीं कर सकता, क्योंकि उसे तो अपना सुख देखना है। मोक्षार्थी पुरुष भी समाज-सुखकी फिक्र नहीं कर सकता; क्योंकि उसे किसीके भी सुखकी चिंता नहीं। कामशास्त्र स्व-सुखार्थी है और मोक्ष-शास्त्र स्व-हितार्थी है। इस तरह दोनों स्व-अर्थी ही है। "प्रायेण देव-मुनयः स्व-मुक्तिकामाः"— "देव या ऋषि भी प्रायः स्वार्थी ही होते हैं", यह भगवद्भक्त प्रह्लादको प्रेमभरी शिकायत है। इन दो एकांतिक वर्गोंके सिवा सामाजिक कानूनों या नियमोंकी मर्यादाओंमें रहनेवाले जो लोग होते हैं उनके लिए धर्मशास्त्र या अर्थशास्त्रकी प्रवृत्ति है।

अब मोक्ष-शास्त्रके साथ न्याय करने की दृष्टिसे इतना तो मानना ही पड़ेगा कि जैसे काम शास्त्रको समाज की परवा नहीं है वैसे समाजको मोक्ष-शास्त्रकी कदर नहीं है। अर्थात् समाज और काम-शास्त्रके अनबनकी जिम्मेदारी अगर काम-शास्त्रपर है तो समाज और मोक्ष-शास्त्रके अनबनका दायित्व समाजपर ही है। मोक्ष-शास्त्र स्वहित-परायण तो है, परंतु जैसा स्व-सुख और पर-सुखका विरोध है वैसा स्वहित और पर-हितका विरोध नहीं है। इसलिए जो 'स्व-हित'-रत होता है वह अपने आप ही '**सर्वभूत-हितेरत**' हो जाता है।

लेकिन मनुष्य 'सर्वभूत-हितेरत' होते हुए भी समाज को प्रिय नहीं होता। कारण यह कि समाज सुख-लोलुप होता है, उसे हितकी कोई खास परवा नहीं

है। सात्त्विकता का जुल्म भी वह ज्यादा सह नहीं सकता। यह सच है कि संत जगतके कल्याणके लिए होते हैं। लेकिन यदि वे जगतके सुखके लिए हों तो समाजको प्रिय होंगे। ईसा, सुकरात, तुकाराम आदि संत समाजको प्रिय हैं, परन्तु अपने-अपने समयमें तो वे समाजको कांटेकी तरह चुभते थे। आज भी वे इसलिए प्रिय नहीं हैं कि समाज उतना आगे बढ़ गया है, बल्कि इसलिए कि वे आज जीवित नहीं हैं।

अब, कामशास्त्र चूंकि बिलकुल ही तामस और समाजकी अवहेलना करनेवाला है, इसलिए वह समाजको दुखदायी होता है। काम-शास्त्र समाजको 'दुःख' देता है, मोक्ष-शास्त्र 'हित' देता है, इसलिए दोनों समाज-बाह्य हैं। कामशास्त्रका तामस 'प्रवाह' और मोक्ष-शास्त्रकी सात्विक, 'पुष्टि' दोनों समाजको एक-सी अपथ्यकर मालूम होती हैं। किसी-किसी मरीजकी ऐसी नाजुक हालत हो जाती है कि उसे अन्न दीजिए तो हजम नहीं होता और उपवास सहन नहीं होता। समाज भी एक ऐसा ही नाजुक रोगी है। बेचारा चिकित्सकोंके प्रयोगका विषय हो रहा है! उसके लिये तामस प्रवाह और सात्विक पुष्टि दोनों वर्ज्य ठहरे हैं, इसलिए उसपर राजस मर्यादाके प्रयोग हो रहे हैं। धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र दोनों समाजके लिए मर्यादाएँ कायम करनेवाले शास्त्र हैं। दोनोंको राजस कहा जाय तो भी धर्मशास्त्रको सत्त्व-प्रचुर और अर्थशास्त्रको धर्म-प्रचुर कहना होगा। हमारे यहां मुख्यतः धर्मशास्त्रका विकास हुआ, पश्चिममें अर्थशास्त्रका हुआ।

थोड़ासा समुद्र-मंथन करते ही विष निकल आया, परन्तु अमृत हाथ आनेके लिए बहुत परिश्रम करना पड़ा। उसी न्यायसे समाज-शास्त्रके जरा-से अध्ययनसे अर्थशास्त्रका जन्म होता है, लेकिन धर्मशास्त्रके उदयके लिए गंभीर अध्ययन की आवश्यकता होती है। हमारे यहां भी अर्थशास्त्र था। वह बिलकुल रहा ही नहीं ऐसी बात नहीं हैं, परन्तु उसकी जहरीली तासीर जानकर समाज-शास्त्रका अधिक मंथन किया गया और धर्मशास्त्र निकाला गया। आर्य-संस्कृतिमें अर्थशास्त्रका विकास नहीं हुआ, इसका यही कारण है। या फिर यह कहना ही गलत है कि विकास नहीं हुआ। पूर्ण विकास हुआ इसीलिए धर्मशास्त्रका उदय हुआ

पाश्चात्य अर्थशास्त्रके इतिहाससे भी इसी बात का प्रमाण मिल रहा है। "**अर्थशास्त्रात्तु बलवद् धर्मशास्त्रमिति स्थितिः**"—"अर्थशास्त्रसे धर्मशास्त्र अधिक प्रमाणभूत है" इस सिद्धान्तका जन्म हुए बिना अर्थ-शास्त्रका छुटकारा ही नहीं हो सकता। इस सिद्धांतके जन्मके अरमान पाश्चात्य संस्कृतिको गत शताब्दीके उत्तरार्द्धसे होने लगे हैं।

अर्थशास्त्रके श्रम-विभागके तत्त्वसे अब सभी ऊबने लगे हैं। गरीब राष्ट्र आमरण 'अहमन्नम्, अहमन्नम्, अहमन्नम्'—'मैं खाद्य हूं, मैं खाद्य हूं, मैं खाद्य हूं'—ऐसी,उपासना करें और बलवान् राष्ट्र 'अहमन्नादः, अहमन्नादः, अहमन्नादः'—"मैं खानेवाला हूं, मैं खानेवाला हूं, मैं खानेवाला हूं"—यह मंत्र जपते रहें, ऐसे नीच श्रम-विभागसे अब दुनिया बिलकुल उकता गई और चिढ़ गई है। रस्किन-जैसे दार्शनिकोंने अर्थशास्त्रके विरुद्ध जो मोर्चा शुरू किया उसे आगे चलानेवाले वीरोंकी परंपरा अव्याहत चल रही है और उस मोर्चेका अंत विजयमें ही होनेके स्पष्ट लक्षण दिखाई देने लगे हैं। 'अर्थशास्त्र'को शंकराचार्यने 'अनर्थशास्त्र' नाम कभीका दे रक्खा है। उसी नामका, 'डिस्मल साइंस' (काली विद्या) कहकर, जीर्णोद्धार पाश्चात्य लोग कर रहे हैं। इसीलिए अर्थशास्त्रके नये संशोधित संस्करण निकलने लगे हैं। इन सब लक्षणोंसे आशा की जासकती है कि पाश्चात्य संस्कृतिकी कोखसे धर्मका अवतार होगा। पिछले महायुद्धसे तो प्रसव-वेदना भी शुरु हो गई है, इससे कुछ लोगोंका यह खयाल है कि अब यह अवतार जल्दी ही होनेवाला है।

यह अवतार कितनी देरमें होनेवाला है।' यह कहना कठिन है। लेकिन इस अवतारके आनेकी प्रारंभिक तैयारी करनेवाले नीति-शास्त्रका जन्म होचुका है और वह दिन-पर-दिन बड़ा भी हो रहा है, धर्म-प्रधान पौरस्त्य संस्कृति और अर्थ-प्रधान पाश्चात्य संस्कृतिकी एक-वाक्यताकी आशा नीतिशास्त्रसे बहुत-कुछ की जासकती है। लेकिन आकाश और पृथ्वीको स्पर्श करनेवाले क्षितिजकी रेखा जिस प्रकार काल्पनिक है उसी प्रकारकी स्थिति इस उभयान्वयी शास्त्रकी भी है। कोषका काम केवल भले-बुरे सभी तरहके शब्दोंका संग्रह करना है। इसलिए उसका अपना कोई भी विशेष संदेश नहीं होता। "तुम व्यवहार करते

समय मेरा उपयोग करसकते हो",इससे अधिक वह कुछ नहीं कह सकता। इसी तरह नीतिशास्त्रका कोई विशेष प्रमेय नहीं है । आशा लगाये 'मुझे बरतो, मुझे बरतो' कहते रहना ही उसके भागमें लिखा है। उसकी गिनती पुरुषार्थोंमें करनेकी किसीको नहीं सूझती ।

नीतिशास्त्रका सिद्धांत ही यह है कि किसी भी सिद्धांतका अत्यधिक आग्रह नहीं रखना चाहिए। इसलिए इस बिंदुपर सारी दुनियाको एक किया जा सकता है। लेकिन 'संतोषसे रहो ', 'हिलमिलकर रहो' या 'जैसे चाहो वैसे रहो' — इस तरहकी संदिग्ध सिफारिश करनेसे अधिक नीति-शास्त्र आज कुछ भी नहीं कर सकता । इसलिए उसके झंडेके नीचे सारा विश्व एकत्र होनेकी संभावना होते हुए भी इस भव्य दिग्वस्त्रकी अपेक्षा लोगोंको लंगोटीसे भी अधिक संतोष होता है। 'मरनेतक जीओगे', इस आशीर्वादमें सत्य है, परंतु स्फूर्ति नहीं है। इसलिए इस आशीर्वादमें उतना संतोष देनेकी भी सामर्थ्य नहीं है, जितना संतोष कि परीक्षितको 'सात दिनमें मरोगे', इस शापसे हुआ होगा। मनुष्यको मनुष्यतासे व्यवहार करना चाहिए, यह नीति-शास्त्रका रहस्य है। और मनुष्यताके क्या मानी हैं ? मनुष्यका स्वभाव ! संज्ञाके मानी (प्रत्येक पदार्थका) नाम ! ऐसे व्यापक-शास्त्रसे मनुष्यको संतोष कैसे हो सकता है ? संस्कृत न्यायशास्त्रमें ऐसे ही प्रचंड प्रमेय होते हैं । "जिसमें घटत्व है वह घट है","जिसमें पटत्व है वह पट है"; "जिसमें पत्थरपन हैं वह पत्थर हैं ! और जिसमें यह सब हो वह ह न्यायशास्त्र !" ऐसी ही दशा नीतिशास्त्रकी हो रही है । इसलिए धर्म-मोक्षकी बात तो जाने दीजिए, अर्थ-कामके बराबरकी स्फूर्ति भी उसमें नहीं है ।

परंतु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि धर्म और अर्थ चाहे कितना ही समझौतेका स्वांग क्यों न भरें, फिर भी वे पक्षपाती ही हैं और नीतिशास्त्र निष्पक्षपात है । निष्पक्षपात वृत्तिके कारण आकर्षक शक्ति कुछ कम भले ही हो, तो भी वह उसका गुण ही माना जाना चाहिए । नित्यके भोजनमें आकर्षण नहीं होता। रोजकी खूराक होनेसे नीति-शास्त्रमें चाहे आकर्षकताका अभाव भले ही हो, परंतु सारे समाजको देने योग्य उससे बढ़कर पौष्टिक दूसरी खूराक नहीं है । धर्म-मोक्ष पौष्टिक होते हुए भी महंगे हैं । अर्थ-काम सस्ते तो हैं, मगर उनकी

गिनती कुपथ्यमें होती है। इसलिए संसारको आज नीतिशास्त्रके बिना गत्यंतर नहीं है।

ऊपर कहा गया है कि हमारी संस्कृति धर्म-प्रधान है। परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि हम धर्म-प्रधान हैं। हम तो अर्थ-कामके ही दास हैं। इसलिए यद्यपि हमारी संस्कृतिको नीतिकी परवाह नहीं, तथापि हमारे लिए नीतिकी उपासना करना नितांत आवश्यक है। सारांश, क्या हमारी और क्या इतरों की—सारे संसार हीकी—सामान्य भाषा नीतिशास्त्र ही है, ऐसा कहा जा सकता है। सभी पुरुषार्थोंकी शिक्षा इसी भाषा में दी जानी चाहिए। नीति पुरुषार्थ भले ही न हो, किंतु पुरुषार्थके शिक्षणका द्वार है। अगर पुरुषार्थोंका भाषांतर नीतिकी भाषामें किया जाय तो सभी पुरुषार्थोंका स्वरूप सौम्य तथा परस्परानुकूल प्रतीत होगा।

वसिष्ठ ऋषिके आश्रममें गाय और बाघ एक ही झरनेपर पानी पीते थे, ऐसा वर्णन है। इसका केवल इकहरा ही अर्थ नहीं है, प्रत्युत दोहरा अर्थ है—अर्थात् न केवल बाघकी क्रूरता ही नष्ट होती थी, बल्कि गायकी भीरुता भी नष्ट हो जाती थी। मतलब यह कि गाय ऋण भय=शेर ऋण क्रौर्य। इस तरह मेल बैठता है। नहीं तो शेरको गाय बनानेकी सामर्थ्य तो सर्कस वालोंमें भी है। उसके लिए ऋषिके आश्रमकी जरूरत नहीं है

नीतिके आश्रममें भी सभी पुरुषार्थोंका आग्रही या एकांगी स्वरूप बदलकर उनका समन्वय हो सकेगा। नीतिके शीशेमेंसे चारों पुरुषार्थोंके रंग बिलकुल बदले हुए नजर आयेंगे। कामकी सुंदरता, अर्थकी उपयोगिता, धर्मकी पवित्रता और मोक्षकी स्वतंत्रताका एकत्र दर्शन होगा और संपूर्ण जीवनकी यथार्थ कल्पना होगी। सौंदर्य, उपयोगिता, पावित्र्य और स्वातंत्र्य, इन चारों दिशाओंको नीतिका आकाश स्पर्श करता है, इसलिए अगर चारों पुरुषार्थ ये नई पोशाकें पहनना मंजूर करें तो उनका द्वैत कम होकर मनुष्यको संतोष होनेकी संभावना है।

परंतु आधुनिक नीतिशास्त्रका अपना कोई निश्चित सिद्धांत न होनेके कारण वह बिलकुल खोखला हो गया है। इसलिए उससे ठोस संतोषकी आशा करना व्यर्थ है। दूसरी भाषामें, वर्तमान नीतिशास्त्रके आत्मा ही नहीं है, इसलिए

उसका स्वरूप बहुत-कुछ शाब्दिक हो गया है। चार पुरुषार्थोंके मिलापकी संभावना दिखाई जाने पर भी उनमें समझौता करनेका कर्तृत्व इस शास्त्रमें नहीं है, इसलिए इस कमीकी पूर्ति करनेके उद्देश्यसे ऋषियोंने कर्तृत्वान् योगशास्त्रका निर्माण किया। समझौतेकी पूर्वतैयारीके लिए नीतिशास्त्रको धन्यवाद देकर अगले कार्यके लिए इस योगशास्त्रकी शरण लेनी पड़ेगी। 'अथ योगानुशासनम्'।

(महाराष्ट्र धर्म : जनवरी, १९२३)

: ५ :

परशुराम

यह एक अद्भुत प्रयोगी लगभग पच्चीस हजार बरस पहले हो गया है। यह कोंकणस्थोंका मूल पुरुष है। मां की ओरसे क्षत्रिय और बापकी तरफसे ब्राह्मण। पिताकी आज्ञासे इसने मांका सिर ही काट डाला था। कोई पूछ सकते हैं, 'यह कहांतक उपयुक्त था?' लेकिन उसकी श्रद्धाको सशंकता छूतक नहीं गई थी। 'निष्ठासे प्रयोग करना और अनुभवसे ज्ञान प्राप्त करना', यही उसका सूत्र था।

परशुराम उस जमानेका सर्वोत्तम पुरुषार्थी व्यक्ति था। उसे दुखियोंके प्रति दया थी और अन्यायोंसे तीव्रतम चिढ़। उस समयके क्षत्रिय बहुत ही उन्मत्त हो गये थे। वे अपनेको जनताका 'रक्षक' कहते थे; लेकिन व्यवहारमें तो उन्होंने कभीका 'र'को 'भ'में बदल दिया था। परशुरामने उन अन्यायी क्षत्रियोंका घोर प्रतीकार शुरू किया। जितने क्षत्रिय उसके हाथ आये, उन सबको उसने मार ही डाला। 'पृथ्वीको निःक्षत्रिय बनाकर छोड़ूंगा', यह उसने अपना बिरद बना लिया था।

इसके लिए वह अपने पास हमेशा एक कुल्हाड़ी रखने लगा। और कुल्हाड़ीसे रोज कम-से-कम एक क्षत्रियका सिर तो उड़ाना ही चाहिए ऐसी उपासना उसने अपने ब्राह्मण अनुयायियोंमें जारी की। पृथ्वी निःक्षत्रिय करनेका यह प्रयोग उसने इक्कीस बार किया। लेकिन पुराने क्षत्रियोंको जान-बूझकर खोज-खोजकर मारने और उनकी जगह अनजाने नये-नये क्षत्रियोंका निर्माण करनेकी

प्रक्रियाका फलित भला क्या हो सकता था ? आखिर रामचन्द्रने उसकी आंखोंमें अंजन डाला। तबसे उसकी दृष्टि कुछ सुधरी।

तब उसने उस समयके कोंकणके घने जंगल तोड़-तोड़कर बस्तियां बसाने के रचनात्मक कार्यका उपक्रम किया। लेकिन उसके अनुयायियोंको कुल्हाड़ीके हिंसक प्रयोगका चस्का पड़ गया था। इसलिए उन्हें कुल्हाड़ीका यह अपेक्षाकृत अहिंसक प्रयोग फीका-सा लगने लगा। निर्धनको जिस प्रकार उसके सगे-संबंधी त्याग देते हैं, उसी प्रकार उसके अनुयायियोंने भी उसे छोड़ दिया।

लेकिन यह निष्ठावान् महापुरुष अकेला ही वह काम करता रहा। ऐच्छिक दरिद्रताका वरण करनवाले, आरण्यक प्रजाके आदि सेवक भगवान् शंकरके ध्यानसे वह प्रतिदिन नई स्फूर्ति प्राप्त करने लगा और जंगल काटना, झोंपड़ियां बनाना, वन्य पशुओंकी तरह एकाकी जीवन व्यतीत करनेवाले अपने मानव-बंधुओंको सामुदायिक साधना सिखाना —इन उद्योगोंमें उस स्फूर्तिसे काम लेने लगा। निष्ठावंत और निष्काम सेवा ज्यादा दिन एकाकी नहीं रहने पाती। परशुरामकी अदम्य सेवावृत्ति देख कोंकणके जंगलों के वे वन्य निवासी पिघल गये और आखिर उन्होंने उसका अच्छा साथ दिया। अपने आपको ब्राह्मण कहलाने वाले उसके पुराने अनुयायियोंने तो उसका साथ छोड़कर शहरों की पनाह ली थी; मगर उनके बदले ये नये अवर्ण अनुयायी उसे मिले। उसने उन्हें स्वच्छ आचार, स्वच्छ विचार और स्वच्छ उच्चारकी शिक्षा दी। एक दिन परशुराम ने उनसे कहा, "भाइयो, आजसे तुम लोग ब्राह्मण हो गये।"

राम और परशुरामकी पहली भेंट धनुर्भंग-प्रसंग के बाद एक बार हुई थी। उसी वक्त उसे रामचंद्रसे जीवन-दृष्टि मिली थी। उसके बाद इतने दिनोंमें उन दोनोंकी भेंट कभी नहीं हुई थी। लेकिन अपने वनवासके दिनोंमें रामचंद्र पंचवटीमें आकर रहा था। उसके वहांके निवासके आखिरी वर्षमें बाग-लाणकी तरफसे परशुराम उससे मिलने आया था। जब वह पंचवटीके आश्रम को पहुंचा, उस समय रामचंद्र पौधोंको पानी दे रहे थे। परशुरामसे मिलकर रामचंद्रको बड़ा ही आनंद हुआ। उसने उस तपस्वी और वृद्ध पुरुषका साष्टांग प्रणाम-पूर्वक स्वागत किया और कुशल-प्रश्नादिके बाद उसके कार्यक्रम

के बारेमें पूछा। परशुरामने कुल्हाड़ीके अपने नये प्रयोगका सारा हाल रामचंद्र को सुनाया। वह सुन रामचंद्रने उसका बड़ा गौरव किया। दूसरे दिन परशु-राम वहांसे लौटा।

अपने मुकामपर वापस आते ही उसने उन नये ब्राह्मणोंको राम का सारा हाल सुनाया और बोला,

"रामचंद्र मेरा गुरु है। अपनी पहली ही भेंटमें उसने मुझे जो उपदेश दिया, उससे मेरी वृत्ति पलट गई और मैं तुम्हारी सेवा करने लगा। अबकी मुलाकातमें उसने मुझे शब्दों द्वारा कोई भी उपदेश नहीं दिया। लेकिन उसकी कृतिमेंसे मुझे उपदेश मिला है। वही मैं अब तुम लोगोंको सुनाता हूं।

"हम लोग जंगल काट-काटकर बस्ती बसानेका यह जो कार्य कर रहे हैं, वह बेशक उपयोगी कार्य है। लेकिन इसकी भी मर्यादा है। इस मर्यादाको न जानकर हम अगर पेड़ काटते ही रहेंगे, तो वह एक बड़ी भारी हिंसा होगी। और कोई भी हिंसा अपने कर्तापर उलटे बिना नहीं रहती, यह तो मेरा अनुभव है। इसलिए अब हम पेड़ काटनेका काम खत्म करें। आजतक जितना कुछ किया, सो ठीक ही किया; क्योंकि उसीकी बदौलत पहले जो 'अ-सह्याद्रि' था, वह अब 'सह्याद्रि' बन गया है। लेकिन अब हमें जीवनोपयोगी वृक्षोंके रक्षणका काम भी अपने हाथ में लेना चाहिए।"

यह कहकर उसने उन्हें आम, केले, नारियल, काजू, कटहल, अनन्नास आदि छोटे-बड़े फलके वृक्षोंके संगोपनकी विधि सिखाई। उसे इसके लिए स्वयं वनस्पति-संवर्धन-शास्त्रका अध्ययन करना पड़ा और उसने अपने हमेशाके उत्साहसे उस शास्त्रका अध्ययन किया भी। उसने उस शास्त्रमें कई महत्त्वपूर्ण शोध भी किये। पेड़ोंको मनोज्ञ आकार देनेके लिए, उन्हें व्यवस्थित काटने-छांटनेकी जरूरत महसूसकर उसने उसके लिए छोटे-से औजारका आविष्कार किया। इस औजारको 'नव-परशु'का नाम देकर उसने अपनी परशु-उपासना अखंड जारी रक्खी।

एक बार उसने अपनी समुद्रतटपर नारियलके पेड़ लगानेका एक सामुदा-यिक समारोह सम्पन्न किया। उस अवसरसे लाभ उठाकर उसने वहां आये हुए

लोगोंके सामने अपने जीवनके सारे प्रयोगों और अनुभवोंका सार उपस्थित किया। सामने पूरे ज्वारमें समुद्र गरज रहा था। उसकी तरफ़ इशारा करके समुद्रवत् गंभीर ध्वनिमें उसने बोलना आरंभ किया—

"भाइयो, यह समुद्र हमें क्या सिखा रहा है, इसपर ध्यान दीजिए। इतना प्रचंड शक्तिशाली है यह; परंतु अपने परम उत्कर्षके समय भी वह अपनी मर्यादाका उल्लंघन नहीं करता। इसीलिए उसकी शक्ति हमेशा ज्यों-की-त्यों रही है। मैंने अपने सारे उद्योगों और प्रयोगोंमेंसे यही निष्कर्ष निकाला है। छुटपनमें मैंने पिताकी आज्ञासे अपनी माताकी हत्या की। लोग कहने लगे, 'कैसा मातृ-हत्यारा है!' मैं उस आक्षेपको स्वीकार करनेको तैयार नहीं था। मैं कहा करता, 'आत्मा अमर है और शरीर मिथ्या है। कौन किसे मारता है? मैं मातृ-हत्यारा नहीं हूं; प्रत्युत पितृभक्त हूं।'

"लेकिन आज मैं अपनी गलती महसूस करता हूं। मातृवधका आरोप मुझे उस उक्त स्वीकार नहीं था, और आज भी नहीं है। लेकिन मेरे ध्यानमें यह बात नहीं आई थी कि पितृभक्तिकी भी मर्यादा होती है। यही मेरा वास्तविक दोष था। लोग अगर अचूक उतना ही दोष बताते तो उससे मेरी विचार-शुद्धि हुई होती। लेकिन उन्होंने भी मर्यादाका अतिक्रमण करके मुझपर आक्षेप किया और उससे मेरी विचार-शुद्धिमें कोई सहायता नहीं पहुंची।

"बादमें बड़ा होनेपर अन्यायके प्रतीकारका व्रत लेकर मैं जुल्मी सत्तासे इक्कीस बार लड़ा। हर बार ऐसा प्रतीत होता था कि मैं सफल हो गया हूं; लेकिन प्रत्येक मर्तबा मुझे निश्चित असफलता ही नसीब हुई। रामचंद्रने मेरी गलती मुझे समझा दी।

"अन्याय-प्रतीकार मनुष्यका धर्म तो है; लेकिन उसकी भी एक शास्त्रीय मर्यादा है, यह ज्ञान मुझे गुरु-कृपाकी बदौलत प्राप्त हुआ।

"इसके उपरांत मैं जंगल काटकर मानव-उपनिवेश बसानेके, मानव-सेवाके कार्यमें जुट गया; लेकिन आप जानते ही हैं कि जंगल काटनेकी भी एक हद होती है, इस बात का ज्ञान मुझे ठीक समयपर कैसे हुआ।

"अबतक मैं निरंतर प्रवृत्तिका ही आचरण करता रहा। पर आखिर प्रवृत्ति-

की भी मर्यादा तो है ही न ? इसलिए अब में निवृत्त होनेकी सोच रहा हूं। इसके मानी यह नहीं है कि मैं कर्म ही त्याग दूंगा। स्वतंत्र नई प्रवृत्तिका आरंभ अब नहीं करूंगा। प्रवाह-पतित करता रहूंगा। प्रसंगवश, आप पूछेंगे तब, सलाह भी देता रहूंगा।

"इसीलिए मैंने आज जानबूझकर इस समारोहका आयोजन किया और अपना-यह 'समुद्रोपनिषत्' या 'जीवनोपनिषत्', चाहे जो कह लीजिए, आपसे निवेदन किया है। फिर-से थोड़ेमें कहता हूं; पितृ-भक्तिकी मर्यादा, प्रतीकारका मर्यादा, मानव सेवाकी मर्यादा—सारांश सभी प्रवृत्तियोंकी मर्यादा—यही मेरा जीवनसार है। आओ, एक बार सब मिलकर कहें, **ॐ नमो भगवत्यै मर्यादायै।**"

इतना कहकर परशुराम शांत हो गया। उसके उस उपदेशकी गंभीर प्रतिध्वनि सह्याद्रिकी खोह-कंदराओंमें आज भी गूंजती हुई सुनाई देती है।
(ग्रामसेवा- वृत्तसेः नागपुर जेल, १९४१)

: ६ :

चिर-तारुण्यकी साधना

तुम्हारे खेल देखकर आनंद हुआ। देशका भविष्य तुम बाल-गोपालोंके हाथमें है। तुमने जो खेल दिखाये वे किसलिए हैं ? शक्ति प्राप्त करनेके लिए हैं। शक्ति किसलिए ? गरीब लोगोंकी रक्षाके लिए, इसलिए कि गरीबोंके लिए हम उपयोगी हो सकें। शरीर घिसानेके लिए तगड़ा बनाना है। चाकूमें धार किसलिए लगाई जाती है ? इसलिए नहीं कि वह पड़ा-पड़ा जंग खा जाय; बल्कि इसलिए कि वह काम आ सके। शरीरमें धार लगानी है, उसे फुर्तीला, चपल और मजबूत बनाना है। उद्देश्य यह है कि आगे चलकर उसे हम चंदनके समान घिस सकें। बल सेवाके लिए है।

गीतामें श्रीभगवान्ने कहा है, **'बलं बलवतामस्मि कामराग-विवर्जितम्।'** (बलवानोंमें मैं वैराग्य-युक्त निष्काम बल हूँ।) शब्दोंपर खूब ध्यान दो। सिर्फ

'बल' नहीं कहा। 'वैराग्य-युक्त निष्काम बल'। इस वैराग्य-युक्त निष्काम बलकी ही मूर्ति हम व्यायामशालाओंमें रखा करते हैं। वह कौन-सी मूर्ति है? हनूमानजीकी पवित्र और सामर्थ्यवान मूर्ति। हनूमानजी वैराग्य-युक्त निष्काम बलके पुतले थे। इसलिए बाल्मीकिने उनके स्तुति-स्तोत्र गाये। रावण भी महा बलवान था। लेकिन रावणमें वैराग्य नहीं था। रावणका बल भोगके लिए था, दूसरोंको सतानेके लिए था। रावण पहाड़ उठाता था, वज्र तोड़ डालता था, दस आदमियोंका बल मानो उस अकेले में था। इसीलिए उसके दस मुंह और बीस हाथ दिखाये गये। इतना बलवान होते हुए भी उसका सारा बल धूलमें मिल गया। हनूमानका बल अजरामर हो गया है। बाल्मीकिने बलकी ये दो मूर्तियां, ये दो चित्र, उपस्थित किये हैं। रावणके बलमें भोग वासना थी। रावण बलके द्वारा भोग प्राप्त करना चाहता था। हनूमान बलके द्वारा सेवा करना चाहता था। सेवाको अर्पण किया हुआ बल टिकेगा, अमर होगा। भोगको अर्पण किया हुआ बल अपने और संसारके नाशका कारण होगा।

समुद्रके तीरपर सारे बानर बैठे थे। लंकामें कौन जायगा, इसकी चर्चा हो रही थी। हनूमान एक तरफ राम-राम जपते बैठे थे। जामवंत हनूमानके पास जाकर बोला, "हनूमान तुम जाओगे?" हनूमान बोला, "आपका आशीर्वाद हो,तो जाऊंगा।"

वह अकेला बानर किस शक्तिके बूते उन बलवान राक्षसोंमें निर्भय होकर चला गया? हनूमानसे जब यह सवाल पूछा गया तब उसने क्या जवाब दिया यह कि मैं अपने बाहुबलके जोरपर आया? हनूमान बोला, "मैं रामके भरोसे यहां आया हूं। मेरे बाजुओंमें जोर है या नहीं, यह मुझे नहीं मालूम। परंतु रामका बल अवश्य मेरे पास है।"

और जरा गहराईसे सोचो, तो बाहुबलका भी क्या अर्थ है? बाहुबलके मानी है शारीरिक श्रम करनेकी शक्ति। इसीके लिए ये हाथ हैं। सेवाके लिए ही हम हस्तवान् हैं। पशुके हाथ नहीं है। भुजाओंके बलके प्रयोगसे हम अन्नका निर्माण करें, सेवा करें। हमारी कलाइयोंमें यह जो सेवा करनेकी शक्ति है, वह किसकी शक्ति है? हनूमान जानता था कि वह आत्माकी शक्ति है, रामकी शक्ति है

जिस बलकी आत्मामें श्रद्धा न हो, राममें श्रद्धा न हो, वह बल निकम्मा होता है। अमृतसरमें कत्ले-आम हुआ। उसके बाद लोगोंने तेजोभंग करनेके इरादेसे, उन्हें शर्मिंदा करनेकी मन्शासे, रास्तेमें पेटके बल चलाया गया। पहाड़ जैसे पंजाबी लोग, ऊंचे-पूरे, तगड़े डील-डौल वाले! लेकिन वे भी पेटके बल रेंगने लगे! क्योंकि राममें उनकी श्रद्धा नहीं थी। आत्माकी निर्भयता वे जानते नहीं थे। आज बंगालमें यही हाल है। लोगोंपर मनमानी पाबंदियाँ लगाई जा रही हैं। रास्तेसे फौज गुजर रही हो तो सलाम करने आना पड़ रहा है। क्या कारण है? आत्माकी निर्भयता गले नहीं उतरती। जिसने रामका बल पहचान लिया, वह कलिकालसे भी नहीं डरा करता। शरीरबल रामके लिए है। वह सेवाके लिए है। भोगके लिए नहीं है।

दूसरी बात यह है: भुजाओंमें जो बल है, वह तुच्छ वस्तु है। वह केवल बल निराधार है। वह बल आत्मश्रद्धापर सुप्रतिष्ठित होना चाहिए। निर्बलोंमें भी आत्मश्रद्धासे बल पैदा हो जाता है। उपनिषद् कह रहे हैं कि जिसमें श्रद्धाका बल है, वह दूसरे सौ आदमियोंको कंपा देगा। इसलिए आध्यात्मिक बलकी उपासना चाहिए।

हनूमानमें पशुबल नहीं था। हनूमानका जो स्तुति-श्लोक है, उसमें दूसरे सारे बलों का वर्णन है; परंतु शरीर-बलका उल्लेख कहीं नहीं है। यथा—

मनोजवं मारुत-तुल्य-वेगम्;
जितेन्द्रियं बुद्धिमतांवरिष्ठम्।
वातात्मजं वानरयूथ-मुख्यम्,
श्रीराम-दूतं शरणं प्रपद्ये ॥

(मनके समान वेगवान, वायुके समान वेगवान, जितेन्द्रिय, बुद्धिमानोंमें वरिष्ठ पवनसुत, वानरों के सेनापति, रामदूतकी मैं शरण जाता हूं।)

हनूमान मन और पवनके समान वेगमान थे। वह जितेंन्द्रिय थे, वह अत्यंत बुद्धिमान थे, वह नायक थ, वह रामदूत थे—इनसारी बातोंका वर्णन है। हनूमान बलका देवता है। लेकिन इस स्तुतिमें बलका जिक्र तक नहीं। क्या यह आश्चर्यकी बात नहीं है? परंतु ये गुण ही वास्तविक बल हैं। ये गुण ही यथार्थ कार्य-शक्ति हैं।

मनुष्यमें वेग चाहिए, स्फूर्ति चाहिए, मनके समान वेग चाहिए, सामने काम देखते ही उसे चटसे आनन्दसे छलांग मारनी चाहिए। सिंहगढ़ फतह करनेका संदेशा आते ही तानाजी चल पड़ा। नहीं तो, मनमें सेवाकी मुराद है, लेकिन शरीर टस-से-मस नहीं होता; वह आलसमें लोट-पोट हो रहा है। ऐसा शरीर किस कामका ? ज्ञानेश्वरने बड़ा सुंदर वर्णन किया है। सेवक कैसा चाहिए ? ज्ञानेश्वर कहते हैं—**'आंग मनापुढ़ें धे धांवा'**—शरीर मनके आगे-आगे दौड़ता है। कोई बात मनमें आनेसे पहले ही शरीर दौड़ने लग जाना चाहिए।

शरीरमें इस तरहका वेग होनेके लिए ब्रह्मचर्य चाहिए, जितेंन्द्रियत्व चाहिए, इंन्द्रियोंपर काबू चाहिए। संयमके बिना यह बल नहीं मिल सकता। वेग और संयमके साथ-साथ बुद्धि भी चाहिए, कर्म-कुशलता भी चाहिए, कल्पना-शक्ति चाहिए और चाहिए प्रतिभा। सिर्फ फर्माबरदारी ही काफ़ी नहीं है। इसके अलावा, रामकी सेवाकी भावना चाहिए। जहां राम कहें, वहाँ जानेके लिए दिन-रात तैयार रहना चाहिए।

हिन्दुस्तानके करोड़ों देवता तुम्हारी सेवाके इच्छुक हैं। उन्हें तुम्हारी सेवाकी जरूरत है। उस सेवाके लिए तैयार रहो। वेगवान, बुद्धिमान, संयमी, सेवाके शौकीन तरुण बनो। शारीरिक बल कमाओ, प्रेम कमाओ। अभी मैंने इस व्यायामशालाके अखाड़ेमें कुश्तियां देखीं। एक कुश्ती एकहरिजन और ब्राह्मणमें हुई। मैंने उसमें समभाव पाया। अगर हम इसी समभावसे आइंदा व्यवहार करेंगे तो समाज बलवान होगा। मगर तुम इस समभाव का पोषण करोगे तो तुम जो खेल खेले, जो कुश्तियां लड़े, उनमेंसे कल्याण ही होगा।

खेलमें हम समभाव सीखते हैं। शिस्त, (अनुशासन) व्यवस्थाका महत्व सीखते हैं। इन खेलों के अलावा दूसरे भी अच्छे खेल खेले जा सकते हैं। खेतकी जमीन खोदना भी एक खेल ही है। एक साथ कुदालियां ऊपर उठती हैं, एक साथ जमीनमें घुस रही हैं,—कैसा सुंदर दृश्य दिखेगा। इस खेलमें आदर्श व्यायाम होगा। उसमें बुद्धिके प्रयोगकी भी गुंजाइश है। व्यायाममें बुद्धिको भी गति मिलनी चाहिए। इसलिए मेरे मतसे व्यायाम भी, कुछ-न-कुछ उत्पादन करने वाला होना चाहिए।

यहांके खेलोंसे तुम्हारे अंदर शक्ति और प्रेम दोनों पैदा हों। सब तरहके सब जातियोंके, लड़के एकत्र होते हैं, एक साथ खेलते हैं। इससे प्रेमका विकास होता है। ये संस्मरण अगले जीवनमें उपयोगी होते हैं। हम साथ-साथ खेले, कुश्ती लड़े, साथ-साथ शक्ति कमाई, ज्ञान कमाया, हाथ मिलाया, आदि संस्मरणोंसे आगे चलकर तुम एकत्र होगे। संघशक्ति और सहकार्य बढ़ेगा।

तुम गणवेष (वर्दियां) पहने हो। इनका उद्देश्य भी आत्मीयता बढ़ाना ही है। परंतु तुम्हारी पोशाक खादीकी ही हो। जो कमर-पट्टे तुम बरतोगे, वे भी मुर्दार चमड़ेके हों। हमको सर्वत्र सचेत रहना चाहिए। बूंद-बूंदसे ही घड़ा भरता है। राष्ट्रमें सब तरफ सूराख-ही-सूराख हो गये हैं। संपत्ति लगातार बाहर जा रही है। इसकी तरफ ध्यान दो।

तुमने कसरत की। लेकिन दूध और रोटी न मिली, तो कैसे काम चलेगा? अगर तुम्हें दूध चाहिए, तो गोरक्षण भी होना चाहिए। गोरक्षणके लिए गायके—मरी हुई गायके—चमड़ेसे बनी हुई चीजें ही बरतनी चाहिए। रोटीके लिए किसानको जिलाना चाहिए। खादी खरीदकर हम उनकी थोड़ी-सी मदद करेंगे, तो वे जीयेंगे और हमें रोटी मिलेगी। तुम्हें अगर घरपर रोटी नहीं मिलती, तो यहां आकर कितनी उछल-कूद करते? तुम जानते हो कि घरपर रोटी तैयार है, इसलिए यहां कूदे-फांदें। अन्न कूदने-फांदनेकी शक्ति देता है। इसलिए उपनिषद् कहता है—**अन्नं वाव बलाद् भूयः** (अन्न, बलसे श्रेष्ठ है) राष्ट्रमें अगर अन्न न होगा, तो बल कहांसे आयेगा? पहले अन्नका इंतजाम करोगे, तब कहीं अखाड़े चलेंगे। पहले अन्नका प्रबंध होगा तब ज्ञानदान का प्रबंध हो सकेगा।

एक बार भगवान् बुद्धका एक प्रचारक घूम रहा था। उसे एक भिखारी मिला। वह प्रचारक उसे धर्मका उपदेश देने लगा। उस भिखारीने उसकी तरफ ध्यान नहीं दिया। उसमें उसका मन ही नहीं लगता था। प्रचारक नाराज हुआ। बुद्धके पास जाकर बोला, "वहां एक भिखारी बैठा है, मैं उसे इतने अच्छे-अच्छे सिखावन दे रहा था, तो भी वह सुनता ही नहीं।" बुद्धने कहा, "उसे मेरे पास लाओ।" वह प्रचारक उसे बुद्धके पास ले गया। भगवान्

बुद्धने उसकी दशा देखी। उन्होंने ताड़ लिया कि यह भिखारी तीन-चार दिनोंसे भूखा है। उन्होंने उसे भरपेट खिलाया और कहा, "अब जाओ।" प्रचारकने कहा, "आपने उसे खिला तो दिया, लेकिन उपदेश कुछ भी नहीं दिया।" भगवान् बुद्धने कहा, "आज उसके लिए अन्न ही उपदेश था। आज उसे अन्नकी ही सब से ज्यादा जरूरत थी। वह उसे पहले देना चाहिए। अगर वह जीयेगा तो कल सुनेगा।"

हमारे राष्ट्रकी आज यही दशा है। आज राष्ट्रमें अन्न ही नहीं है। रामदासके जमानेमें अन्न भरपूर था। आजकी तरह उस समय हिंदुस्तानकी संपत्तिका सोता सूखा नहीं था। इसलिए उन्होंने प्राणकी, बलकी उपासनाकी उपदेश दिया। आज देहातोंमें सिर्फ अखाड़े खोल देनेसे काम नहीं चलेगा।

जब राष्ट्रमें अन्नकी उपज और गोसेवा होगी, तभी राष्ट्रका संवर्धन होगा। बलवान तरुणोंको राष्ट्रमें अन्न और दूधकी अभिवृद्धि करनी चाहिए। हिंदुस्तानको फिरसे 'गोकुल' बनाना है। यह जब बनाओगे, तब बनाओगे। परंतु आज तो खादीकी पतलून पहनकर और मरे हुए—मारे हुए नहीं—जानवरके चमड़ेका पट्टा पहनकर अन्नदान और गोपालनमें हाथ बंटाओ।

खाकी पोशाक करो। लेकिन वह पोशाक करके गरीबोंके पेटपर मत मारो। तुम गरीबोंके संरक्षणके लिए कवायद करोगे। लेकिन गरीब जब जीयेंगे तभी तो उनका रक्षण करोगे न? तुम खाकी परिधान करके देशके बाहर पैसे भेजोगे और इधर गरीब मरेंगे। फिर संरक्षण किसका करोगे? तुम पैसे तो विदेश भेजोगे और दूध-रोटी मांगोगे देहातियोंसे? वे तुम्हें कहांसे देंगे, भैया? इसलिए खाकी ही पहननी हो, तो खाकी खादी पहनो।

तुम्हारे गणवेष (वर्दियां) खादीके हैं, तुम्हारी संस्थामें हरिजन भी आते हैं, ये बातें बड़ी अच्छी हैं। लेकिन मुसलमानोंको मुमानियत क्यों? हिंदू-मुसलमानोंको एकत्र होने दो। कम-से-कम मुमानियत तो न करो। उन्हें यहां लानेकी कोशिश करो। तुम हिंदू-मुसलमान एक ही देशके हो। एक ही देशके हवा-पानी, अन्न-प्रकाशपर पल रहे हो। अगर हिंदू यहांके हैं तो मुसलमान बाहरके कैसे? और अगर मुसलमान बाहरके हैं, तो हिंदू भी बाहरके हैं। लोकमान्य

कहते हैं कि हिंदूलोग उत्तर ध्रुवकी तरफसे आये। हिंदू अगर पांच-दस हजार साल पहले आये, तो मुसलमान हजार साल पहले आये । परंतु आजकी भाषामें तो यहींके कहे जायंगे। दोनों भारतमाताके ही लाल हैं।

सब धर्मोंके विषयमें उदार भावना रक्खो। जो सच्चा मातृभक्त है, वह सभी माताओंको पूज्य मानेगा। वह अपनी माताकी सेवा करेगा; लेकिन दूसरेकी माताका अपमान नहीं करेगा। हरएक अपनी मांके दूधपर पलता है। धर्म-माताके समान हैं। मुझे मेरी धर्म-माता प्रिय है। मैं मातृपूजक हूं; इसलिए मैं दूसरेकी माताकी निंदा तो हरगिज नहीं करूंगा। उलटे, उस माताका भी वंदन करूंगा।

दिलमें यह भाव पैदा होनेके लिए यथार्थ हरिभक्तिकी जरूरत है। चित्तमें यथार्थ भक्ति जाग्रत होनेपर यह सब होगा। । बाहर उपासना और अंदर उपासना--दोनों चाहिए। बाहर खेल चाहिए, भीतर प्रेम चाहिए। खेलोंके द्वारा शरीर फुर्तीला और सुभग बनाकर आत्माको सौंपना है। शरीर आत्माका हथियार है। हथियार भली-भांति उपयोगी होनेके लिए स्वच्छ चाहिए। शरीर ब्रह्मचर्यके द्वारा स्वच्छ करके आत्माके हवाले करो।

शरीर स्वच्छ रक्खो, उसी प्रकार मनको भी प्रसन्न, प्रेमल, निर्मल और सम रक्खो। खेलनेकी बाह्य क्रियासे शरीर स्वच्छ रहेगा। उपासनासे भीतरी शरीर याने मन, निर्मल रहेगा। अंतर-बाह्य शुचि बनो, जैसा यह हनूमान है—बलवान् और भक्तिवान, सेवाके लिए निरंतर तत्पर। तुम उम्रसे तरुण होते हुए भी अगर चपल न होगे, सेवाके लिए शरीर चटसे उठता न होगा, तो तुम बूढ़े ही हो। जिसके शरीरमें वेग है, वह तरुण है; चाहे उसकी अवस्था कुछ भी हो। हनूमान कभी बूढ़े नहीं हो सकते। वह चिर-तरुण हैं। चिरंजीव हैं।

ऐसे चिरतरुण तुम बनो। तुम दीर्घायु होकर उम्रसे वृद्ध होगे, उस वक्त भी तरुण रहो। वेग बनाये रक्खो। वृद्धि साबित रक्खो। मैं ईश्वरसे प्रार्थना करता हूं कि हमारे तरुण इस प्रकार तन्मय बुद्धिसे जनताकी और उसके द्वारा परमेश्वरकी सेवा करनेमें जुट जायें।'[1] [सर्वोदयः नवंबर, १९४१]

---

१ 'धूलिया (खानदेश) की 'विजय व्यायामशाला' में दिये गयेप्रवचनका मुख्य अंश।

: ७ :

गृत्समद

: १ :

यह एक मंत्रद्रष्टा वैदिक ऋषि था। वर्तमान यवतमाल जिलेके कलंब गाँवका रहनेवाला था। गणपतिका महान् भक्त था। **'गणानां त्वा गणपतिं हवामहे'** ('हम आपका जो कि समूहोंके अधिपति हैं, आवाहन करते हैं") यह सुप्रसिद्ध मंत्र इसीका देखा हुआ है। ऋग्वेदके दस मंडलोंमेंसे द्वितीय मंडल समूचा इसीका है। इस मंडलमें तेंतालीस सूक्त हैं और मंत्र-संख्या चार सौ के ऊपर है। ऋग्वेद जगत्का अतिप्राचीन और पहला ग्रंथ माना जाता है। ऋग्वेदके भी कुछ अंश प्राचीनतर हैं। इस प्राचीनतर अंशमें द्वितीय मंडलकी गणना होती है। इसपरसे इतिहासज्ञ इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि गृत्समद करीब बीस हजार वर्ष पहले हुआ। गृत्समदका यह मंडल सूक्तसंख्या और मंत्रसंख्या के लिहाजसे ऋग्वेदके करीब पच्चीसवें हिस्सेके बराबर होगा।

गृत्समद हरहुनरी आदमी था। ज्ञानी, भक्त और कवि तो वह था ही। लेकिन इसके अलावा गणितज्ञ, विज्ञान-वेत्ता, कृषि-संशोधक और मंजा हुआ बुनकर भी था। जीवनके छोटे-बड़े किसी भी अंगकी उपेक्षा वह सहन नहीं कर सकता था। वह हमेशा कहा करता था, **"प्राये प्राये जिगीवांसः स्याम"**—हमें हरएक व्यवहारमें विजयी होना चाहिए।' और उसके ज्वलंत उदाहरणके कारण आसपास रहनेवाले लोगोंमें उत्साहका जाग्रत वातावरण बना रहता था।

गृत्समदके जमानेमें नर्मदासे गोदावरीतकका सारा भूप्रदेश जंगलोंसे भरा हुआ था। पांच-पच्चीस मीलोंके अंतरपर एकाध छोटी-सी बस्ती हुआ करती थी। शेष सारा प्रदेश निर्जन। आसपासके निर्जन बन में बसी हुई गृत्समदकी एकमात्र बड़ी बस्ती थी। इस बस्तीने संसारका, कपासकी खेतीका, सबसे पहला

सफल प्रयोग देखा। आज तो बरार कपासका भंडार बन गया है। गृत्समद के कालमें बरारमें आजकी अपेक्षा बारिशका परिमाण ज्यादा था। उतना पानी सोख लेनेवाला कपासका पौधा गृत्समदने तैयार किया और उसे एक छोटे-से प्रयोगक्षेत्रमें लगाकर उससे दस सेर कपास प्राप्त किया। गृत्समदकी इस नई पैदावारको लोगोंने 'गात्संमदम्' नाम दिया। क्या इसीका ही लैटिन रूप 'गोसिपियम्' हो सकता है ?

उसकी बस्तीके लोग ऊन कातना-बुनना अच्छी तरह जानते थे। यह कार्य मुख्यत: स्त्रियोंके सिपुर्द था। आज बुननेका काम पुरुष करते हैं और स्त्रियां कुकड़ी भरने, मांडी लगाने आदिमें उनकी मदद करती हैं। किन्तु वैदिक काल में बुनकरोंका एक स्वतन्त्र वर्ग नहीं बना था। खेतीकी तरह बुनना भी सभीका काम था। उस युगकी ऐसी व्यवस्था थी कि सारे पुरुष खेती करते थे और सारी स्त्रियां घरका कामकाज सम्हालकर बुनती थीं। 'सांझको सूर्य जब अपनी किरणें समेट लेता है, तब बुननेवाली भी अपना अधूरा बुना हुआ तागा समेट लेती है'—'**पुनः समव्यत् विततं वयंती**'—इन शब्दोंमें गृत्समदने बुननेवालीके जीवन-काव्यका वर्णन किया है।

गृत्समदके प्रयोगके फलस्वरूप कपास तो मिल गया, लेकिन, 'कपड़ा कैसे बनाया जाय'? यह महान् प्रश्न खड़ा हुआ। ऊन कातनेकी जो लकड़ीकी तकली होती थी, उसीपर सबनें मिलकर कपासका सूत कात लिया। यद्यपि बुनाई स्त्रियोंके ही सिपुर्द थी, तो भी कातनेका काम तो स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध सभी किया करते थे। सूत तो निकला; लेकिन बिलकुल रद्दी। अब उसे कोई बुने भी कैसे ?

गृत्समद हिम्मत हारनेवाला व्यक्ति नहीं था। उसने खुद बुनना शुरू किया। बुननेकी कलाकी सारी-प्रक्रियाओंका सांगोपांग अभ्यास किया। सारा सूत दोषसम्पन्न पाया। लेकिन उसमेंसे जो थोड़ा पक्का था, उससे उसने 'तंतु' बनाया। 'तंतु' के माने वैदिक भाषामें 'धागा' है। बाकी बचे हुए कच्चे सूतको 'ओतु' कहकर रख लिया। लेकिन मांडी लगानेमें कटाकट-कटाकट तार टूटने लगे। गृत्समदको गणितज्ञ होनेकें कारण टूटे हुए कितने तारों को जोड़ना प

इसका हिसाब भी करता था। पहली बारके मांडी लगानेमें टूटे हुए तारोंकी संख्या चार अंकोंकी (हजारकी) थी। बादमें तागा करघेपर चढ़ाया गया। हत्थेकी पहली चोटके साथ चार-पांच तार टूटे। उन्हें जोड़कर फिरसे ठोंका, फिरसे टूटा। इसी तरह कितने ही हफ्तोंके बाद पहला थान बुना गया। उसके बाद सूत धीरे-धीरे सुधरता चला। लेकिन फिर भी शुरूके बारह वर्षोंमें बुनाईका काम बड़ा ही कष्टकर हो गया था। गृत्समदकी आयुके ये बारह वर्ष यथार्थ तपश्चर्याके वर्ष थे। वह इतना उत्साही और तंतु-ब्रह्म,ओतु-ब्रह्म ठोंक-ब्रह्म और टूट-ब्रह्मकी ब्रह्ममय वृत्तिसे बुनाईका काम करनेवाला होता हुआ भी, जब सूत लगातार टूटने लगते थे तो वह भी कभी-कभी पस्त-हिम्मत हो जाता था। ऐसे ही एक अवसरपर उसने ईश्वरसे प्रार्थना की थी,'**देवा,मा तंतुश्छेदि वयतः**'—"बुनते वक्त तंतु टूटने न दे!" लेकिन ऐसी गलत प्रार्थना करनेके लिए वह तुरन्त ही पछताया था। इसलिए उसने उस प्रार्थनामें 'धियं मे' याने 'मेरा ध्यान' ये दो शब्द मिलाकर उसे संवार लिया। "जब मैं अपना ध्यान बुनता होऊं, तो उसका तंतु टूटने न दे"—ऐसा उस संशोधित और परिवर्द्धित प्रार्थनामेंसे सुशोभित अर्थ निकाला। उसका भावार्थ इस प्रकार है—"मैं जो खादी बुना करता हूं, वह मेरी दृष्टिसे केवल एक बाह्य क्रिया नहीं है। वह तो मेरी उपासना है। वह ध्यानयोग है। बीच-बीचमें धागोंके टूटते रहनेसे मेरा ध्यान-योग भंग होने लगता है, इसका मुझे दुःख है। इसलिए यह इच्छा होती है कि धागे न टूटने चाहिएं। लेकिन यह इच्छा उचित होते हुए भी, प्रार्थनाका विषय नहीं हो सकती। उसके लिए सूतमें उन्नति करनी चाहिए; और वह कर लूंगा। लेकिन जबतक सूत कच्चा रहेगा, तबतक वह टूटता तो रहेगा ही। इसलिए अब यही प्रार्थना है कि सूतके साथ-साथ मेरी अन्तर्वृत्तिका, मेरे ध्यानका, धागा न टूटे।

गृत्समद अखण्ड अन्तर्मुख वृत्ति रखनेका प्रयत्न करता हुआ भी प्रतिदिन कोई-न-कोई शरीर-परिश्रमात्मक और उत्पादक कार्य करता ही रहता था। '**माहं राजन्नन्यकृतेन भोजम्**'—'मैं दूसरोंके परिश्रमोंसे भोग कदापि प्राप्त न करूं।'—यही उसका जीवन-सूत्र था। वह लोक-सेवा-परायण था। इसलिए उसके योगक्षेमकी चिन्ता लोग ही किया करते थे। लेकिन वह अपने मनमें सदा

यही चिन्तन किया करता था कि 'लोगोंसे मैं जितना पाता हूं, क्या उसे शत-गुणित करके उन्हें लौटाता हूं ? और उसमें भी क्या नवीन उत्पादनका कोई अंश होता है ?'

इसी चिन्तनके फलस्वरूप ही मानो एक दिन उसे अचानक गुणाकारकी कल्पना स्फुरित हुई। गणितशास्त्रको लोक-व्यवहार-सुलभ बनानेकी दृष्टिसे वह फुरसतके समय उसमें आविष्कार करता रहता था। उसके समयमें षड्-विधियोंमेंसे लोग सिर्फ जोड़ना और घटाना ही जानते थे। जिस दिन गृत्समदने गुणन-विधिका आविष्कार किया, उस दिन उसके आनन्दका वारापार ही नहीं रहा। उसने दोसे लेकर नौ तकके नौ पहाड़े बनाये और फिर तो वह बांसों उछलने लगा। पहाड़े रटनेवाले लड़कोंको कहीं इस बातका पता लग जाय, तो वे गृत्समदको बिना पत्थर मारे नहीं रहेंगे। लेकिन गृत्समदने आनन्दके आवेशमें आकर इंद्रदेवका आवाहन पहाड़ोंसे ही करना शुरू किया—"हे इंद्र ! तू दो घोड़ेके, और आठ घोड़ोंके और दस घोड़ोंके रथमें बैठकर आ। जल्दी-से-जल्दी आ। इसके लिए तेरी मर्जी हो, तो दोके पहाड़ेके बदले दसके पहाड़ेसे काम ले। दस घोड़ोंके, बीस घोड़ोंके, और तीस घोड़ोंके और चालीस घोड़ोंके......और सौ घोड़ोंके रथमें बैठकर आ।"

गृत्समद चौमुखा आविष्कारक था। पौराणिकोंने उसके इस महान् आविष्कार का लेखा किया है कि चन्द्रमाका गर्भकी वृद्धिपर विशेष परिणाम होता है। वैदिक मंत्रोंमें भी इसकी ध्वनि पाई जाती है। चन्द्रमामें मातृवृत्ति रम गई है। और कलावान् तो वह है ही। इसलिए सूर्यकी ज्ञानमय प्रखर किरणोंको पचाकर और उन्हें भावनामय सौम्य रूप देकर माताके हृदयमें रहनेवाले कोमल गर्भतक उस जीवनामृतको पहुंचानेका प्रेमपूर्ण और कुशल कार्य चन्द्र कर सकता है और वह उसे निरन्तर करता रहता है—यह गृत्समदका आविष्कार है। आधुनिक विज्ञानने अबतक इस विषयपर विशेष प्रकाश नहीं डाला है। परावृत्त-किरण-विज्ञान, प्राण-विज्ञान और मनोविज्ञान, इन तीनोंका यहां मिलाप होनेके कारण प्रश्न कुछ पेचीदा और सूक्ष्म है, इसमें शक नहीं। लेकिन गृत्समदका सिद्धांत साधारण अविज्ञ मनको भी भाने लायक तो है। बालकका

सौम्य रूप यदि 'सोमकृत्' हो, तो क्या आश्चर्य है ? जब हम सूर्यवंशी राम को भी 'रामचन्द्र' कहते हैं, तब चन्द्रकी उपमा सूचित करते हैं न ? कवियोंने चन्द्रामृत पीनेवाले एक चकोरपक्षीकी कल्पना कर ली है । वह चकोरपक्षी अगर माताके उदरमें रहनेवाला गर्भ साबित हो, तो भी कवि तो हरगिज नाराज नहीं होंगे । अपने-अपने अल्प प्रकाशसे टिमटिमानेवाले तारे भी अपनी जगह छोड़कर चन्द्रसे मिलने कभी नहीं जायंगे । परन्तु चन्द्र विनम्र होकर प्रत्येक नक्षत्रसे भेंट करने उसके घर जाता है । इतना बड़ा प्रम-मूर्ति अगर गर्भस्थ बालककी चिन्ता नहीं करेगा तो और कौन करेगा ? चन्द्रकी कलाओंकी पूर्णता पूर्णिमाको ही होती है । पूर्णिमाको उद्दश्य करके गृत्समद कहता है, 'हे पूर्णिमे, गर्भके टांके तू खूब मजबूत सुईसे लगा और शतगुणित प्रदान करने वाला पराक्रमशील, प्रशंसनीय सेवक उत्पन्न कर—'ददातु वीरं शतदायं उक्थ्यम्' ।
(ग्रामसेवा- वृत्तसे : सर्वोदय, सितम्बर, १९४१)

: ८ :

ग्रामलक्ष्मीकी उपासना

हमारा यह देश बहुत बड़ा है । इसमें सात लाख देहात हैं । हमारे देशमें शहर बहुत थोड़े हैं । अगर औसत निकाला जाय, तो दसमेंसे एक आदमी शहरमें रहता है और नौ देहातमें रहते हैं । पैंतीस करोड़ लोगोंमेंसे, ज्यादा-से-ज्यादा, चार करोड़ शहरोंमें रहते हैं । इकतीस करोड़ देहातमें रहते हैं । लेकिन इन इकतीस करोड़का ध्यान शहरोंकी तरफ लगा रहता है । पहले ऐसा नहीं था । देहात मुहताज होकर शहरोंका मुंह नहीं ताकते थे । लेकिन आज सारी स्थिति बदल गई है ।

आज किसानके दो ईश्वर हो गये हैं । आजतक एक ही ईश्वर था । किसान आकाशकी तरफ देखता था । पानी बरसानेवाले ईश्वरकी तरफ देखता था । लेकिन आज चीजोंके भाव ठहरानेवाले देवताकी तरफ भी देखना पड़ता है । इसीको आस्मानी-सुलतानी कहते हैं । आस्मान भी रक्षा करे और सुलतान भी

हिफाजत करे। परमात्मा खूब फसल दे और शहर भरपूर भाव दे। इस तरह इन देवताओंको—एक आकाशका और दूसरा अमेरिकाका—किसानको पूजना पड़ता है। लेकिन ऐसे दो-दो भगवान काम नहीं आयेंगे। गांधी कहते हैं ऊपरवाले ईश्वरको बनाये रक्खो और इस दूसरे देवताको छोड़ो। एक ईश्वर बस है।

अब इस दूसरे देवताकी, याने शहरिये भगवानकी, भक्तिसे छुटकारा पानेका उपाय मैं तुमलोगोंको बतलाता हूं। हमारे गांवोंकी सारी लक्ष्मी यहांसे उठकर शहरोंमें चली जाती है। अपने पीहरसे चल बसती है। इस ग्रामलक्ष्मीके पैर गांवमें नहीं ठहरते। वह शहरकी तरफ दौड़ती है। पहाड़पर पानी भरपूर बरसता है; लेकिन वह वहां कब ठहरता है; वह चारों तरफ भाग निकलता है। पहाड़ बेचारा कोरा-का-कोरा, नंग-धड़ंग, गंजा-बूचा, खड़ा-का खड़ा, रह जाता है। देहातकी लक्ष्मी इसी तरह चारों दिशाओंमें भाग खड़ी होती है। शहरोंकी तरफ बेतहाशा दौड़ती है। अगर हम उसे रोक सकें तो हमारे गांव सुखी होंगे।

यह देहाती लक्ष्मी कौन-कौन-से रास्तोंसे भागती है, सो देखो। उन रास्तोंको बन्द कर दो; तब वह रुकी रहेगी। उसके भागनेका पहला रास्ता बाजार है, दूसरा शादी-ब्याह, तीसरा साहूकार, चौथा सरकार और पांचवां व्यसन। इन पांचों रास्तोंको बन्द करना शुरू करें।

सबसे पहले ब्याह-शादीकी बात लीजिए। तुम लोग ब्याह-शादीमें कोई कम पैसा खर्च नहीं करते। उसके लिए कर्ज भी करते हो। लड़की बड़ी हो जाती है, अपने ससुरालमें जाकर गिरस्ती करने लगती है। लेकिन शादीके ऋणसे उसके मां-बाप मुक्त नहीं होते। यह रास्ता कैसे मूंदा जाय, सो बताता हूं। तुम कहोगे, 'खर्चमें कतरब्योंत करो। भोज न दो, समारोहकी क्या जरूरत है?'—वगैरा वगैरा। यह ठीक नहीं। समारोह खब करो। ठाठबाटमें कमी नहीं होनी चाहिए। लेकिन मैं अपनी पद्धतिसे कम खर्चमें पहलेसे भी ज्यादा ठाठ-बाट तुम्हें देता हूं।

लड़के-लड़कीकी शादी मां-बाप ठीक करें। लेकिन वहां उनका काम खत्म

हो जाना चाहिये शादी करना, समारोह करना, यह सारा काम गांवका होगा। मां-बाप शादीमें एक पाई भी खर्च नहीं करेंगे। जो करेंगे उनको जुर्माना होगा ऐसा कायदा गाववालोंको बना लेना चाहिए।

मान लीजिए मेरे यहां शादी है। गांवके हरेक आदमीको दो-दो, चार-चार आने--जो कुछ तय हुआ हो--मेरे पास लाकर देने चाहिएं। मानो सबने मिलकर मुझे वह भेंट दी। उसमेंसे में सारे गांव का नेवता कर सकूंगा। बगैर पैसा इकट्ठा किये और बगैर कर्ज किये शादी हो जायगी। गांव में हरसाल बीस पच्चीस या पचास शादियां होती होंगी। तो मुझे दो आनेके हिसाबसे, पचास दूने सौ आने, याने मोटे तौरपर छः रुपये देने पड़ेंगे। हरएक जातिकी शादियां की जायं, तो इससे भी कम खर्च लगेगा। मेरे यहां दस सालमें शादीका मौका आया। मुझे हरसाल दो-तीन रुपयेके हिसाबसे दस वर्षोंमें तीस रुपये देने पड़े, अब मेरे यहां शादीका मौका आया। मुझे कोई खर्च नहीं आयगा। मुझे लोग भेंट देंगे। सब गांववाले जमा होंगे। बड़ा भारी समारोह होगा। और खर्च कितना आयगा? दस वर्षों में तीस रुपये मैंने दिये हैं, वही। याने मेरे यहां की शादी तीस रुपयेमें हो गई और उसमें सारा गांव,सारी जाति शामिल हुई। सभी भोजमें सम्मिलित हुए। लड़के-लड़कीको कितनी खुशी होगी? दुलहे-दुलहिनको सबके आशीर्वाद मिलेंगे। सबके आशीर्वाद पानेसे और बड़ी खुश किस्मती कौन-सी हो सकती है? शादीमें लोगोंको क्यों बुलाया जाता है? इसीलिए कि सबकी सदिच्छा, सबके आशीर्वाद मिलें। इन लड़के-लड़कीकी गिरस्तीके लिए सब अपनी शुभ-कामनाएँ और आशा व्यक्त करें। लड़के सिर्फ मां-बापके ही नहीं होते। वे सारे समाजके होते हैं। लड़के कोई अच्छा काम करेंगे, तो सारे गांवका भला होगा, बुरा काम करेंगे तो सारे गांवकी बुराई होगी।

अगर कोई अपने पैसेसे शादी करे, तो वह पाप मानो। गांववाले उसे अपना अपमान समझें। लड़के जितने अपने मां-बापके हैं,उतने ही समाजके भी हैं। मां-बापके मर जाने पर क्या वे घूरपर फेंक दिये जाते हैं? गांव उन्हें सम्हालता है, मदद करता है। शादी भी करेगा। आप इस रास्तेसे जाकर देखिए।

प्रयोग कीजिए। साहूकारका ऋण कम होता है या नहीं, देखिए। आपका कर्ज घटेगा। झगड़े कम होंगे। सहयोग और आत्मीयता बढ़ेगी।

दूसरा रास्ता बाजारका है। तुम देहाती लोग कपास बोते हो। लेकिन सारा-का-सारा बेच देते हो। फिर बुवाईके वक्त बिनौले शहरसे मोल लाते हो कपास यहां पैदा करते हो। उसे बाहर बेचकर बाहर से कपड़ा खरीद लाते हो। गन्ना यहां पैदा करतेहो। उसे बेचकर शक्कर बाहरसे लाते हो। गांवमें मूंगफली तिल्ली और अलसी होती है। लेकिन तेल शहरकी तेल-मिलसे लाते हो। अब इतना ही बाकी रह गया है कि यहांसे अनाज भेजकर रोटियां बंबईसे मंगाओ। तुम्हें तो बैल भी बाहरसे लाने पड़ते हैं। इस तरह सारी चीजें बाहरसे लाओगे तो कैसे पार पाओगे ?

बाजारमें क्यों जाना पड़ता है ? जिन चीजोंकी जरूरत होती है, उन्हें भर-सक गांवमें ही बनानेका निश्चय करो। स्वराज्य माने स्वदेशका राज्य, अपने गांवका राज्य। घर जानेपर तुम लोग सोचो कि अपने गांवमें क्या-क्या बना सकते हो। देखो, तुम्हें कौन-कौन-सी चीजें चाहिए। तुम्हारी खेतीके लिए बढ़िया बैल चाहिए। उन्हें मोल कहांतक लोगे ? तुम्हें बढ़िया बैल यहीं गांवमें पैदा करने चाहिए। गायोंका अच्छी तरह पालन करो। एक दो बढ़िया सांड उनमें रक्खो। बाकीके सबको बधिया करो। इससे गायों की नस्ल सुधरेगी। अच्छे बैल मिलेंगे। बैलोंके लिए बागडोर, नथनी वगैरा चाहिए। गांवमें सन, पटुआ वगैरासे यहीं बना लो। तुम्हें कपड़ेकी जरूरत है, उसे भी यहीं बनाना चाहिए। गांवमें बुनकर न हो तो दो लड़कोंको सिखा लाओ। हरएकको अपने घरमें कातना चाहिए। उतना समय जरूर मिल जायगा। मूंगफली गांवमें ही होती है। यहीं घानी शुरू करो, तो यहीं ताजा तेल मिलेगा। गन्ना गांवमें होता है। उसका गुड़ बनाओ। शक्करकी बिल्कुल जरूरत नहीं है। गुड़ गरम होता है, लेकिन पानीमें मिलानेसे ठंढा हो जाता है। गुड़में स्वास्थ्यके लिए पोषक द्रव्य हैं। गुड़ बनाओ। खोई जलानेके काम आयगी। गांवके चमारसे ही जूते बनवाओ। इस तरह गांवमें ही सारी चीजें बननी चाहिए। पुराने जमानेमें

हमारे गांव ऐसे स्वावलम्बी थे। उन्हें सच्चा स्वराज्य प्राप्त था।

गांवका ही अनाज, गांवका ही कपड़ा, गांवका ही गुड़, गांवका ही तेल, गांवके ही जूते, गांवके ही डोर, गांवके ही बैल, गांवका ही घरका पिसा आटा— इस रवैयेको अपनाओ। फिर देखो तुम्हारे गांव कैसे लहलहाते हैं? तुम कहोगे वह महंगा पड़ेगा। यह केवल कल्पना है। मैं एक उदाहरणसे समझाता हूं। मान लो, तुम्हारे गांवमें एक रंगरेज है, एक बुनकर है, एक तेली है, एक चमार है। आज चमार क्या करता है। वह कहता है 'मैं तेलीसे तेल नहीं लूंगा; वह महंगा पड़ता है। तेली क्या कहता है? 'गांवके चमारका बनाया हुआ जूता महंगा है। मैं शहरमें जूता खरीदूंगा'। बुनकर कहता है—'मै गांवका सूत नहीं लूंगा। पुतलीघरका अच्छा होता है'। किसान कहता है—'मैं बुनकर-का कपड़ा नहीं लूंगा। मिलका लूंगा। वह सस्ता होता है'। इस तरह आज हमने एक-दूसरेको मारनेका धंधा शुरू किया है। एक-दूसरेको निबाह लेना धर्म है। उसे छोड़कर हम एक-दूसरेको मटियामेट कर रहे हैं।

लेकिन जरा मजा देखिए। तेली चार आने ज्यादा देकर चमारसे महंगा जूता खरीदता है। उसके जेबसे आज चार आने गये। आगे चलकर वह चमार तेलीसे चार आने ज्यादा देकर महंगा तेल खरीदता है। याने उसके चार आने लौट आते हैं। अर्थात् वह महंगा नहीं पड़ता। जहां पारस्परिक व्यवहार होता है वहां 'महंगा' जैसा कोई शब्द ही नहीं है। गये हुए पैसे दूसरे रास्तेसे लौट आते हैं। मैं उसकी महंगी चीज खरीदता हूँ, वह मेरी महंगी चीज खरीदता है। हिसाब बराबर। इसमें क्या बिगड़ता है? जुलाहेने खादी बनाई और तेलीने वह खरीद ली। तेलीके लिए खादी महंगी है, जुलाहेके लिए तेल महंगा है। बात एक ही है। तेलमें जो पैसे गये वे खादीमें वापस मिले और खादीमें गये सो तेलमें मिल गये। 'इस हाथ देना उस हाथ लेना'—इस तरहका भाईचारेका, सहयोगका व्यवहार पहले होता था। लेकिन वह आज लोप हो गया है।

देहातमें प्रेम होता है, भाईचारा होता है। देहातके लोग अगर एक-दूसरे-की जरूरतोंका ख्याल नहीं करेंगे तो वह देहात ही नहीं है। वह तो शहरके जैसा हो जायगा। शहरमें कोई किसीको नहीं पूछता। सभी अपने-अपने मतलबके लिए वहां इकट्ठे होते हैं, जैसे गोबरका ढेर देखकर सैकड़ों कीड़े जमा होते हैं। उस

सड़नेवाले गोबरमें सैकड़ों कीड़े कुलबुलाते है। वे कीड़े वहां क्यों इकट्ठे हुए? किसी कीड़ेसे पूछो, 'यहां क्यों आया ? तेरे कोई भाई-बहन यहां हैं' ? वह कीड़ा कहेगा, 'मैं गोबर खानेके लिए यहां आया हूं और गोबर खानेमें चूर हूं। मुझे ज्यादा बोलनेकी फुरसत नहीं है।' कलाकन्द, गुड़ आदिपर मक्खियां बैठती हैं, सो क्या प्रेमके कारण ? उसी तरह शहरोंमें मक्खियोंके समान जो आदमी भिनभिनाते रहते हैं, चीटियोंकी नाईं जिनका तांता लगा रहता है, वह क्या प्रेमके लिए ? शहरमें स्वार्थ और लोभ हैं। गांव प्रेमसे बनता है। गांवमें आग लग जाय, तो सब लोग अपना-अपना काम छोड़कर दौड़ आयेंगे। घरमें कोई बैठा थोड़े ही रहेगा ? लेकिन बम्बईमें क्या दशा होगी ? सब कोई कहेंगे 'पानीका बम्बा जायगा, मुझे अपना काम है।' इसीलिए एक कवि ने कहा है—गांवोंको ईश्वर बनाता है और शहरोंको मनुष्य।'

हमारे बाप-दादा गांवोंमें रहते थे। आज तो हर कोई शहरमें जाता है। वहां क्या धरा है ? पीले पत्थर हैं और धूल है। यथार्थ लक्ष्मी देहातमें है। पेड़ोंमें फल लगते हैं। खेतोंमें गेहूं होता है, गन्ना होता है। यही सच्ची लक्ष्मी है। यह सच्ची लक्ष्मी बेचकर सफेद या पीले पत्थर मत लो। तुम शहर जाकर वहांसे सस्ती चीजें लाते हो। लेकिन सभी ऐसा करने लगें, तो देहात वीरान दिखाई देंगे। अगर देहातोंको सुखी देखना है, तो शहरके बाजारको छोड़ो। गांवकी चीजें खरीदो। जो चीज गांवमें बन ही न सकती हो वह अलबत्ते बाहरसे लाओ। बाहरसे लानेमें भी, अगर वह दूसरे गांवमें होती हो, तो वहांसे लाओ। मान लो यहां चूड़ियां नहीं होतीं, तो सोनगीरसे लाओ। यहां अच्छे लोटे नहीं बनते, तो सोनगीरसे लो। यहां रंगरेज न हो, तो मालपुरसे रंगाकर मंगाओ। मालपुरका रंगरेज तुम्हारे यहांसे गुड़ लेकर जायगा; तुम उसके यहांसे कपड़े रंगवाओ। तुम्हारे गांवमें जो चीजें न बनती हों, उनके लिए दूसरे गांव खोजो। शहरमें कोई चीज खरीदने जाओ तो पहले यह सवाल पूछो कि क्या यह चीज देहातमें बनी है ?—हाथकी बनी हुई है ? पहले उन चीजोंको पसंद करो। जहांतक हो सके, यन्त्रोंसे बना हुआ शहरका माल निषिद्ध मानो।

तुम्हारी ग्राम-पंचायतोंको यह काम अपने जिम्मे लेने चाहिए। गांवके

झगड़े-टंटे करने का काम तो पंचायतोंका है ही । लेकिन गांवसे कौन-कौन-सी चीजें बाहर जाती हैं, कौन-कौन-सी बाहरसे आती हैं, इसका ध्यान भी पंचायत को रखना चाहिए । नाका बनाकर फेहरिस्त बनानी चाहिए । बादमें, वे चीजें बाहरसे क्यों आती हैं, इसकी जांच-पड़ताल करके उन्हें गांवमें ही बनवानेकी कोशिश करनी चाहिए । बुनकर नहीं है ? दूसरे गांवको दो लड़के सीखनेके लिए भेज देंगे । हरएकको यह संकल्प कर लेना चाहिए कि गांवकी ही चीज खरीदूंगा । जो चीज मेरे गांवमें न बनती हो, उसे वहीं बनवानेकी कोशिश करूंगा । गांवके नेताओंको इसकी तरफ ध्यान देना चाहिए । 'कैसे होगा ? क्या होगा ?'—न कहो । उठो, काम शुरू कर दो, चट-से सब हो जायगा । फिर तुम ही चीजोंके दाम ठहराओगे । तेली तेल किस भाव बेचे, चमार जूता कितनेमें बना दे, बुनकरकी बुनाई क्या हो ?—सब-कुछ तुम तय करोगे । जब सभी एक दूसरेकी चीजें खरीदने लगेंगे तो सब सस्ता-ही-सस्ता होगा । 'सस्ता' और 'महंगा' ये शब्द ही नहीं रहेंगे ।

बतलाओ, तुम्हारे यहां क्या-क्या नहीं हो सकता ? एक नमक नहीं हो सकता । ठीक, नमक लाओ बाजारसे । दो, मिट्टीका तेल । दरअसल तो मिट्टीके तेलकी जरूरत नहीं होनी चाहिए । परन्तु उसके बिना काम ही न चलता हो तो खरीदो । तीसरी चीज, मसाले । मिर्च तो यहां होती ही है । दरअसल तो मिर्च भी बन्द कर देनी चाहिए । मिर्चकी शरीरको जरूरत नहीं है । दियासलाई खरीदनी पड़ेगी । कुछ औजार खरीदने पड़ेंगे । दूसरा कोई चारा नहीं है । ये चीजें खरीदो । मिट्टीका तेल धीरे-धीरे कम करो । उसके बदले अंडीका तेल काममें लाओ ।

परन्तु इनके सिवा बाकी सारी चीजें गांवमें ही बनाओ । खादी गांवमें बननी चाहिए। खादीके कपड़ेके लिए सूतके बटन भी यहीं बन सकते हैं । उन दूसरे बटनोंकी क्या जरूरत है ? अगर छातीपर वे बटन न हों तो क्या प्राण छटपटायेंगे ? ऐसी बात तो नहीं है । तो फिर उन्हें फेंक दो । इस कंठीकी क्या जरूरत है ? उसके बिना चल नहीं सकता ? ऐसी अनावश्यक चीजें गांवमें लाओगे तो ये कंठियां पैरोंको जंजीरकी तरह जकड़ेंगी या फांसीकी रस्सीकी

तरह गला घोंट देगी। बाहरसे ऐसी कंठियां लाकर अपने शरीरको मत सजाओ। भगवान् श्रीकृष्ण कैसे सजता था ? वह क्या बाहरसे कंठियां लाता था ? वृन्दावनमें मोरोंके जो पंख गिर जाते थे, उन्हींसे वह अपना शरीर सजाता था। पंख उखाड़कर नहीं लाता था। वह मोरके पंखसे सजता था। सो क्या सिड़ी हो गया था ? क्या पागल हो गया था ? 'मेरे गांवके मोर हैं, उनके पंखोंसे मैं अपने शरीरको सजाऊं तो कोई हर्ज नही है। इसमें उन मोरोंकी भी पूजा है'—ऐसी भावनासे वह मोरमुकुट लगाता था। और गलेमें क्या पहनता था ? वनमाला। मेरी यमुनाके तीरके फूल—वे सबको मिलते हैं। गरीबोंको मिलते हैं, अमीरोंको मिलते हैं। वह स्वदेशी वनमाला, देहातकी वनमाला, गलेमें पहनता था। और बजाता क्या था ? मुरली। देहातके बांसकी बांसुरी—वह अलगोजा। यही उसका वाद्य था।

हमारे एक मित्र जर्मनी गये थे। वह वहांका एक प्रसंग सुनाते थे। "हम सब विद्यार्थी इकट्ठे हुए थे। फरासीसी, जर्मन, अंग्रेज, जापानी, रूसी, सब एकसाथ बैठे थे। सबने अपने-अपने देशके राष्ट्रीय वाद्य बजाकर दिखाये। फरासीसियोंने वायोलिन बजाया, अंग्रेजोंने अपना वाद्य बजाया। मुझसे कहा गया, 'तुम हिन्दुस्तानी वाद्य सुनाओ।' मैं चुपचाप बैठा रहा। वे मुझसे पूछने लगे, 'तुम्हारा भारतीय वाद्य कौनसा है' ? मैं उन्हें बता नहीं सका।"

मैंने तुरन्त अपने उस मित्रसे कहा, "अजी, हमारा राष्ट्रीय वाद्य बांसुरी है। लाखों गांवोंमें वह पाई जाती है। सीधी-सादी और मीठी। कृष्ण-भगवानने उसे पुनीत किया है। एक बांसकी नली ले ली, उसमें छेद बना लिये, बस वाद्य तैयार हो गया।"

ऐसा वाद्य श्रीकृष्ण बजाता था। वह गोकुलका स्वदेशी देहाती वाद्य था। अच्छा, श्रीकृष्ण खाता क्या था ? बाहरकी चीनी लाकर खाता था ? वह अपने गोकुल की मक्खन मलाई खाता था। दूसरोंको खाना सिखाता था। ग्वालिनें गोकुलकी यह लक्ष्मी मथुराको ले जाती थीं। परन्तु गांवकी इस अन्नपूर्णाको कन्हैया बाहर नहीं जाने देता था। वह उसे लूटकर सबको बांट देता था। सारे गोकुलके बालक उसने हृष्टपुष्ट किये। जिन्होंने गोकुलपर चढ़ाई की,

उनके दांत उसने अपने मित्रोंकी मददसे खट्टे किये । गोकुलमें रहकर भी वह क्या करता था ? गायें चराता था । उसने दावानल निगल लिया, याने क्या किया ? देहातोंको जलानेवाले लड़ाई-झगड़ोंका खातमा किया । सब लड़कोंको इकट्ठा किया । प्रेम बढ़ाया । इस तरह यह श्रीकृष्ण गोपालकृष्ण है । वह तुम्हारे गांवका आदर्श है । गोपालकृष्णने गांवोंका वैभव बढ़ाया, गावों-की सेवा की, गांवोंपर प्रेम किया, गांवोंके पशु-पक्षी, गांवकी नदी, गांवका गोवर्धन पर्वत—इन सबपर उसने प्रेम किया । गांव ही उसका देवता था। आगे चलकर वह द्वारकाधीश बने । लेकिन फिर भी गोकुलमें आते थे, फिर गाय चराते थे, गोबरमें हाथ डालते थे, गोशाला बुहारते थे, वनमाला पहनते थे, बंसी बजाते थे, लड़कोंके साथ, गोपबालोंके साथ, खेलते थे। 'व्रजकिशोर' उनका प्यारा नाम था । 'गोपाल' उनका प्यारा नाम था। उन्होंने गोकुलमें असीम आनंद और सुख पैदा किया ।

गोकुलका सुख असीम था । ऐसे गोकुलके अन्नके चार कणोंके लिए देवता तरसते थे । प्रेममस्त गोपालबाल जब भोजन करके दही और 'गोपाल'-कलेवा खाकर यमुनाके जलमें हाथ धोने जाते थे, तब देवता मछली बनकर वे जूठे अन्नकण खाते थे । उनके स्वर्गमें वह प्रेम था क्या ? उन देवताओंको पैसेकी कमी नहीं थी । लेकिन उनके पास प्रेम नहीं था। हमारे शहर आपके स्वर्ग हैं न ? अरे भाई, वहां प्रेम नहीं है । वहां भोग हैं, पैसे हैं परन्तु आनंद नहीं है । अपने गांवोंको गोकुलके समान बनाओ । तब वे शहर के नगरसेठ तुम्हारे गांवकी नमक-रोटीके लिए लालायित होकर दौड़ते आयंगे । हमें देहातोंको हराभरा गोकुल बनाना है—स्वाश्रयी, स्वावलम्बी, आरोग्यसंपन्न, उद्योगशील, प्रेमल । ईखका कोल्हू चल रहा है, चरखा चल रहा है, धुनिया धुन रहा है, तेलका कोल्हू चूं-चर्र बोल रहा है, कुएंपर मोट चल रही है, चमार जूता बना रहा है, गोपाल गायें चरा रहा है और बंशी बजा रहा है--ऐसा गांव बनने दो। अपनी गलती से हमने गांवोंको मरघट बनाया । आइए अब फिर उसको गोकुल बनायें ।

कागज एरंडोलका खरीदो । दंतमंजन राखका बनाओ । ब्रश दतौनके बनाओ । विदेशी कागजकी झंडियां और पताकाएं हमें नहीं चाहिए । अपने

गांवके पेड़ोंके पल्लव—ग्राम-पल्लव–लो। उनके तोरण और बंदनवार बनाओ। गांवके पेड़ोंका अपमान क्यों करते हो? बाहरसे चीजें लाकर बंदनवार लगाओगे तो गांवके दरख्त रूठेंगे। वे समारोहमें हाथ बंटाना चाहते हैं। उनके कोंपल लाओ। हमारे धार्मिक मंगल उत्सवोंके लिए क्या कागजके तोरण विहित हैं? आमके शुभ पल्लव चाहिए और घड़ा चाहिए। कलश चाहिए। सो क्या टिन-पॉटका होगा? वह पवित्र कलश मिट्टीका ही चाहिए। तुम्हारे गांवके कुम्हार का बनाया हुआ चाहिए। देखो हमारे पूर्वजोंने गांवकी चीजोंकी कैसी महिमा बढ़ाई है। उस दृष्टिको अपनाओ। सारा नूर पलट जायगा। जिधर-उधर दूसरी ही दुनिया दिखाई देने लगेगी। समृद्धि और आनंद दिखाई देने लगेंगे।

हमने ब्याह-शादीकी बातका विचार किया। बाजारके सवालका विचार किया। अब, पहले व्यसनोंकी बात लेता हूं। अपने वशकी बातें पहले ले लें। बादमें सरकार और साहूकारकी बात सोच लेंगे।

कोई दिनभर फू-फू बीड़ी फूंकते रहते हैं। कहते हैं, 'बीड़ियां तो घरकी ही हैं। वे बाहरसे नहीं आती'। अरे भाई, जहर अगर घरका हो तो क्या खा लोगे? घरका जहर खाकर पूरी सोलह आने स्वदेशी मृत्युको स्वीकार करोगे? जहर चाहे घरका हो या बाहर का, त्याज्य ही है। उसी तरह सभी व्यसन बुरे हैं। उन सबको छोड़ना चाहिए। वे प्राणघातक है। शराबके बारेमें कहोगे तो पहले महाराष्ट्रमें शराब नहीं थी। महाराष्ट्रका पहला गवर्नर एलफिस्टन साहब था। उसने महाराष्ट्रका इतिहास लिखा है। उसमे वह कहता है–"पेशवोंके राजमें शराबसे आमदनी नहीं ी। लेकिन आज तो गांव-गांवमें पियक्कड़ है, सरकार उलटे उन्हें सुभीता कर देती है। लेकिन सरकार सुबिधा कर देती है, इसलिए क्या हम शराब पीयें? हिंदुस्तानमें दो मुख्य धर्म हैं—हिंदू-धर्म और इस्लाम। इन दोनों धर्मोंमें शराब पीना महान् पाप माना गया है। इस्लाममें शराब हराम है। हिंदू-धर्ममें शराबकी गिनती पंच महापातकोंमें होती है। शराब पीकर आखिर हम क्या साधते हैं? प्राणोंका, कुटुम्बका, धनका और इन सबसे प्रिय धर्मका–सभी चीजोंका नाश होता है।

बीड़ी और शराबके बाद तीसरा व्यसन है बात–बातमें तकरार करना।

कृष्णने झगड़ोंके दावानल निगल लिये। तकरार मत करो। और अगर झगड़ा हो ही जाय तो गांवके चार भले आदमी बैठकर उसका तस्फिया करो। अदालतकी शरण न लो। अदालतें तुम्हारे गांवोंमें ही चाहिए। जिस प्रकार और चीजें गांवकी ही हों, उसी प्रकार न्याय भी गांवका ही हो। तुम्हारे खेतोंमें सब कुछ पैदा होता है। लेकिन न्याय तुम्हारे गांवमें पैदा न होता हो तो कैसे काम चलेगा? गांवका धान्य, गांवका वस्त्र और गांवका ही न्याय हो। बाहरकी कचहरी-अदालतें किस कामकी? चीजोंके लिए जिस तरह हम परावलम्बी नहीं होंगे, उसी तरह न्यायके लिए भी नहीं होंगे। प्रेमसे रहो। दूसरेको थोड़ा-बहुत अधिक मिल जाय, तो भी वह गांवमें ही रहेगा, लेकिन दूर चला जानेपर, न हमें मिलेगा, न तुम्हें मिलेगा, सारा भाड़में जायगा। गांवमें ही पंचोंमें परमेश्वर है। उसकी शरण लो।

भोजन वगैरा दीगर बातोंकी ऊहापोह यहां नहीं करता। जीवन निर्मल और विचारमय बनाओ। हरएक काम विवेक-विचारसे करो।

चौथी बात साहूकारकी है। तुम ही अपने घर कपास लोढ़कर बीजके लायक बिनौले संभालकर रख लोगे, घरमें ही कपड़ा बना लोगे, मूंगफली, अलसी घरमें रखकर गांवके कोल्हूसे तेल निकलवा लोगे, अदालत-इजलासमें जाना बंद कर दोगे, गांवमें ही सारे झगड़े तय कर लोगे और मेरे बतलाये ढंगसे ब्याह-शादियां करोगे तो साहूकारकी जरूरत बहुत कम पड़ेगी। लेकिन तिसपर भी सभी लोग साहूकारके पाशसे छुटकारा कहीं पायेंगे। कर्जदार फिर भी रहेंगे। लेकिन कर्जकी तादाद कम हो जायगी।

तुम्हारी कर्जदारीका सवाल स्वराज्यके बिना पूरी तरह हल नहीं होगा। स्वराज्यमें सबके हिसाब जांचे जायंगे। जिस साहूकारको मूलधनके बराबर ब्याज मिल चुका होगा, उसका कर्ज अदा हो चुका ऐसा घोषित किया जायगा। जिस साहूकारका मूलधन भी न मिला हो, सूदके रूपमें भी न मिला हो, उससे समझौता करेंगे। इसी तरहके उपायसे वह सवाल हल करना होगा। तटस्थ पंच मुकर्रर करके तहकीकातके बाद जो उचित होगा, किया जायगा। तबतक आजके बतलाये उपायोंसे काम लेना चाहिए और धीरे-धीरे साहूकारसे दूर रहनेकी कोशिश करनी चाहिए। परंतु कर्ज चुकानेके फेरमें बाल-बच्चोंकी उपेक्षा न

करो। बच्चोंको दूध-घी दो। भरपूर भोजन दो। लड़के सारे समाजके हैं। मैं अपने साहूकारसे कहूंगा, "मैं अपने बच्चोंको थोड़ा दूध दूं? उन्हें दूधकी जरूरत है।" बच्चे जितने मेरे हैं, उतने ही साहूकारके भी हैं। वे सारे देशके हैं। लड़कोंको देनेमें तुम साहूकारको ही देते हो। इसलिए पहले भरपेट खाओ, बालबच्चोंको खिलाओ। घरकी हाजतें पूरी होनेपर कुछ बकाया रहे, तो जाकर दे दो। कर्ज तो देना ही हैं। खा-पीकर देना है। भोग-बिलासके बाद नहीं। 'कुछ बचा तो ला दूंगा'—साहूकारसे कह दो।

इस तरह चार बातें बतलाईं। गांवकी लक्ष्मीके बाहर जानेके चार दरवाजे बताये और उन्हें बंद करनेके उपायोंकी दिशा भी बताई। अब पांचवीं बात सरकार है। यह सरकार कैसे बंद की जाय? तुम अपनी चीजें बनाने लगो, अपने गांवमें बनाने लगो, तो सरकार अपने आप सीधी हो जायगी। सरकार यहाँ क्यों रहती है? विलायतका माल आसानीसे तुम बेवकूफोंके हाथ बिक सकता है, इसलिए। कल बुद्धिमान बनकर अगर अपने गांव स्वावलंबी बनाओगे, तो सरकार अपने-आप नरम हो जायगी। जिस चीजकी जरूरत हो उसे गांवमें ही बनाओ। जो इस गाँव में न बन सके उसे दूसरे गाँवसे लाओ। शहरके कारखानोंका बहिष्कार करो। विदेशी चीजोंकी तो बात ही कौन पूछता है? विदेशी और स्वदेशी कारखानोंको तुम अपने गांवसे जो खाद्य पहुंचाते हो, उसे बंद करो। आपसमें एकता करो। लड़ना-झगड़ना छोड़ दो। अगर लड़ो भी तो गाँव हीमें फैसला कर लो। कचहरी-अदालतका मुंह न देखने का संकल्प करो। गाँवकी ही चीजें, गाँवका ही न्याय। अगर ऐसा करोगे तो एक पंथ दो काज होंगें। दरिद्रताका कष्ट दूर होगा और सरकार अंतर्धान हो जायगी। तुम इस तरह स्वावलंबी, निर्व्यसनी, उद्यमी और हिलमिलकर रहनेवाले बनो; तब सरकार तुम्हारे हक दिये बिना रह ही नहीं सकती। तुम्हारी इतनी ताकत बढ़नेपर भी अगर सरकार तुम्हारे हक न देगी, तो फिर सत्याग्रह तो है ही। उस हालतमें जो सत्याग्रह होगा, वह ऐसा पचास-साठ हजारका टुटपूंजिया सत्याग्रह नहीं होगा। उसमें तो पचास-साठ लाख लोग शरीक होंगे।

तुम लगानके रूपमें दस हजार रुपया देते हो। लेकिन कपड़ोंके लिए पच्चीस

हजार देते हो। अब, मान लो कि यह सरकार यहाँसे जल्दी नहीं टलती। उसका लगान कम नहीं होता। स्वराज्य मिलनेपर कम करेंगे। लेकिन वह पराक्रम जब होगा तब होगा। फिर भी अगर कपड़ा गाँवमें ही बनानेका संकल्प कर लें, तो क्या होगा? हरएकको तीन सेर रूईकी जरूरत होगी। हर कुटुम्बमें अगर पांच आदमी हों,तो पंद्रह सेर रूई हुई। बोनेके लिए जितने बिनौलोंकी जरूरत हो, उतनी बढ़िया कपास खेतसे बीनकर घरघर ही लोढ़ो। बढ़िया बिनौले मिलेंगे। जो रूई होगी उसमेंसे अपने परिवारके कपड़ोंके लिए आवश्यकतानुसार रख लो और बाकीकी बेंच दो। फी आदमी पक्की तीन सेर रूईके दाम सवा रुपया होंगे। बत्तीस सौ आदमियोंको चार-पांच हजारकी रूई रखनी होगी। कपड़ा पच्चीस हजारका होगा। उसमेंसे पांच हजार घटा दीजिए, तो बीस हजार गाँवमें रहेंगे। सरकार लगानके दस हजार ले जायगी। लेकिन तुम बीस हजार बचाओगे। इसीलिए गांधी कहते हैं कि खादी ही स्वराज्य है। अकेली खादीकी बदौलत बीस हजार रुपये गाँवमें रह गए। कल स्वराज्य मिल जाय तो क्या होगा? लगान आधा याने दस हजारका पाँच हजार, हो जायगा।। याने तुम्हारे पांच हजार रुपए बचेंगे। लेकिन खादी बरतनेसे बीस हजार बचेंगे। इसलिए वास्तविक स्वराज्य किस वस्तुमें है यह जानो।

पहले दूसरे कई राज्य हुए तो भी देहातका यह वास्तविक स्वराज्य कभी नष्ट नहीं हुआ था। इसीलिए हमें रोटियोंके लाले नहीं पडे। परंतु इस राज्यमें यह खादीका स्वराज्य, देहाती उद्योग-धंधोंका स्वराज्य, नष्ट हो गया है। इसी-लिए देहात वीरान और डरावने दिखाई देने लगे। इंग्लैंडका मुख्य आधार कर या किसान नहीं है, बल्कि करोड़ों रुपयोंका व्यापार है। लगानके रूपमें उसे दस हजार ही मिलेंगे। लेकिन तुम्हें कपड़ा बेचकर वह बीस हजार ले जायगा। शक्कर, घासलेट वगैरा सैंकड़ों ऐसी ही चीजें हैं। इसलिए वास्तविक स्वराज्य-को पहचानो। हम सरकारको अपने पराक्रमसे कब निकाल सकेंगे, सो देखा जायगा। परंतु तबतक मेरे बतलाये उपायोंसे अपने गांव स्वावलंबी, उद्यमी,प्रेममय बनाओ। इसीमें सब कुछ हैं।[1]

(महाराष्ट्र धर्मसे : सर्वोदय, दिसंबर, १९४१)

[1]कसारा (खानदेश) में दिया गया एक भाषण।

अन्य स्थानोंसे मानवता और भक्तिका लोप हो जायगा, तब भी द्राविड़में वह मानवता और भक्ति कायम रहेगी। मुझे भविष्यवाणी करना नहीं आता। अगर मैं भविष्यवाणी करना चाहूं तो मैं कहूंगा कि दुनियामें दिन-ब-दिन भक्ति बढ़ेगी। यद्यपि फिलहाल चलनेवाले युद्धसे बात उल्टी दिखाई दे रही है।

हम जानते हैं कि दुनियाका पहला ग्रंथ ऋग्वेद है। इसके पहलेका कोई लिखित ग्रंथ हमको अबतक नहीं मिला। इसलिए ऋग्वेद ही हमारे लिए एक बहुत प्राचीन प्रामाणिक वस्तुके रूपमे है। मैं देख रहा हूं कि हिन्दुस्तानकी एकता का खयाल ऋग्वेदमें भी मौजूद है। ऋग्वेदका एक मंत्र कहता है कि इस देशमें दो तरफसे—दो बाजुओंसे दो हवाएं बह रही हैं। एक समुद्रकी तरफसे आती है और दूसरी परावर्त्तकी तरफसे। जिस समुद्रकी तरफसे हवा आती है उसको हम हिंद महासागर कहते हैं। मैं देखरहा हूं कि हिमालयकी गहन गुफाओंसे एक हवा आती है और दूसरी सिंधुसे बहती है। इस खयालसे हिंदुस्तान समुद्रसे लेकर हिमालयतक एक है। इसका आध्यात्मिक अर्थ भी है। हम जो श्वासोच्छ्-वास लेते हैं उसकी उपमा वे ऋषि दे रहे हैं। वे कहते हैं कि प्राणायाम करने वाले योगी अन्दर एक हवा लेते है और बाहर दूसरी हवा छोड़ते हैं। जैसे योगी के अन्दरकी गुफा और बाहरका अंतरिक्ष दो भाग हैं वैसे ही भारतका हिमालय और समुद्र है। भारत भूमि भी इसी तरह प्राणायाम कर रही है। हिमालयसे वायु छोड़ती है और समुद्रसे लेती है। अब जो अर्थ निकला उससे यह साफ है कि हिन्दुस्तानकी एकता अभीकी नहीं है बल्कि हजारों वर्ष पहलेकी है। रामा-यणमें एक स्थानपर वाल्मीकिने रामचन्द्रजीको समुद्रके समान गंभीर और पर्वत के समान स्थिर कहा है। उन्होंने श्रीरामचन्द्रजीको एक राष्ट्र-पुरुषके रूपमें चित्रित किया है। हजारों बरस पहले ही जब पारस्परिक सम्बन्धके कुछ साधन नहीं थे तभी हमारे पूर्वजोंने इस भूमिको एक विशाल राष्ट्र मान लिया था। इतने विशाल देशको एक मानना इस जमानेके लिए कोई नई बात नहीं है।

आजके यूरोपके युद्ध जैसे अनेक युद्धोंका प्रयोग यहां हो चुका है और हिन्दुस्तानके लोगोंने उससे सीखा भी है। मैं उम्मीद करता हूं, यूरोपवाले भी इस युद्धके बाद देखेंगे कि यूरोपको एक राष्ट्र मानना अच्छा है। हमारी पुरानी एकताका साधन

क्या था ? हमारी संस्कृत भाषा। उस समय हमारी भाषा संस्कृत थी। अब संस्कृत के अनेक अंग बन गये और अलग-अलग भाषाएं बन गईं। अलग-अलग सूबोंमें अलग-अलग भाषाका प्रयोग होने लगा। इतना होते हुए भी जो लोग राष्ट्रीयता का खयाल रखते थे वह संस्कृतमें बोलते और लिखते थे। आप देखेंगे कि केरल में पैदा हुए शंकराचार्यजीने दक्षिणसे हिमालयतक अपने अद्वैतका प्रचार संस्कृत द्वारा किया, जब मालाबारकी भाषा दूसरी थी। कारण, वह उस वक्त भी राष्ट्रीयताका खयाल रखते थे। सवाल उठता है कि अपने अद्वैतके प्रचार करनेके लिए उन्हें हिन्दुस्तानभरमें घूमनेकी क्या जरूरत थी। अद्वैतकी दृष्टिसे ही देखा जाय तो उनका अद्वैत जहां उनका जन्म हुआ था वहींपर पूर्णतया प्रगट हो सकता था। उनको घूमनेकी जरूरत क्या पड़ी? एक और बात यह है कि वह हिन्दुस्तान के बाहर नहीं गये। इस तरह आप समझेंगे कि उन्होंने एक राष्ट्रीयताका खयाल करके अपने अद्वैतका प्रचार सिंधसे लेकर परावर्त्तक किया। लेकिन उनमें भी एक मर्यादा थी। उन्होंने आम लोगोंकी भाषा छोड़कर सिर्फ संस्कृतमें ग्रंथ लिखे। उनके बादके संतोंको लाचार होकर आम लोगोंकी भाषामें लिखना पड़ा और संस्कृतको छोड़ना पड़ा। अलग-अलग भाषाओंमें अलग-अलग ग्रन्थ लिखे जाने लगे। अलग-अलग भाषा हो जानेके कारण प्रांतीयताका भाव पैदा होने लगा। इसका नतीजा हुआ कि अंग्रेजोंने लश्करके दो विभाग किये—दक्षिणी हिस्सा और उत्तरी हिस्सा। उन्होंने देखा कि उत्तर वाले दक्षिणकी भाषा नहीं समझते और दक्षिणवाले उत्तरकी भाषा नहीं समझते। अगर दक्षिणमें बलवा हुआ तो उत्तरी सेना यहांपर काम देगी। यह आपको कोई काल्पनिक बात नहीं बता रहा हूं। १८५७ के बलवेको मैं भारतीय स्वातंत्र्यका संग्राम मानता हूं। उसका दबाने के लिए मद्राससे सेना भेजी गई थी। यद्यपि भारत हजारों सालसे एकत्र रहा फिरभी बादको भाषाका संबंध टूट गया और अंग्रेजोंने इसका फायदा उठाया। गांधीजीने देखा कि अगर हम एक राष्ट्र बनाना चाहते हैं और अपने प्राचीनतम राष्ट्रों का (जो हिमालयसे सिन्धुतक फैला है) ताकतवर बनाना चाहते हैं तो एक राष्ट्रभाषाकी सख्त जरूरत है। अब संस्कृत राष्ट्रभाषा नहीं हो सकती। इसलिए अभी हिन्दुस्तानमें जो प्रचलित भाषा है उसका अभ्यास सबको करना होगा।

इसलिए गांधीजीने हिन्दी भाषाको सबके सामने रक्खा कि सब उसका अभ्यास करें। अब वस्तु-स्थिति यह है कि जब हिंदुस्तानमें कांग्रेसका जन्म हुआ तब शुरू-शुरूमें आपसके व्यवहारके लिए अंग्रेजी काममें लाई गई। इस तरह हमारे पढ़े-लिखे आदमी अंग्रेजी भाषाका उपकार मानते थे और शुरू-शुरूमें अंग्रेजीसे काम चलाते थे। लेकिन किसीको यह न सूझा कि सबके लिए अंग्रेजी सीखना मुश्किल है। वह हिंदुस्तानकी राष्ट्रभाषा नहीं हो सकती। यह बात सिर्फ गांधीजीको सूझी।

जैसे हिंदीमें तुलसी रामायण लिखी गई है, वैसे ही तमिलमें या बंगलामें क्या सौ बरसके अंदर कोई ऐसा उत्तम ग्रंथ लिखा गया है जो गांव-गांवमें फैला हो? प्राचीन जमानेमें ऐसा कोई साधन नहीं था जैसा हमारे यहां अब है। जैसे प्रिंटिंग प्रेस। प्रिंटिंग प्रेस जैसे महान् प्रचारकके होते हुए भी ऐसा क्यों नहीं हुआ? मैं तामिल नहीं जानता। लेकिन मेरे भाइयोंने बताया है कि ऐसा कोई ग्रंथ नहीं जिसका प्रचार देहाततक हुआ हो। बहुतसे प्रकाशक मुझसे मिल चुके हैं। और मैं उनसे पूछ आया हूं कि आप प्रकाशक हैं या अप्रकाशक? पुराने जमानेमें जब कोई पुस्तक लिखता था तो उसको लेकर घूम-घूमकर उसका प्रचार भी करता था। मगर आज हम मान बैठे हैं कि प्रिंटिंग-प्रेससे हमारा काम बन गया। तुलसी-रामायणने जनताकी सच्ची सेवा की है। नागपुरमें जब मुझे तुलसी-रामायण कहनेका मौका मिला तो एक बातपर मेरा ध्यान गया। आजकल छोटे बच्चोंको (जो प्रारंभिक शिक्षा पाते हैं) अक्षर सिखानेके लिए ऐसा पाठ लिखा जाता है जिसमें संयुक्ताक्षर नहीं होते। नागरी और बंगलामें संयुक्ताक्षरका प्रचार है। इसलिए वहां जो बिना संयुक्ताक्षर के लिखा जाता है, वह कुछ कृत्रिम-सा बन जाता है। लेकिन तुलसी-रामायणमें ५० सैकड़े शब्द ऐसे मिलेंगे जिनमें एक भी संयुक्ताक्षर नहीं है। यह तुलसीदासकी विशेषता है। उत्तर भारतमें श, ष, स का उच्चारण एक ही तरह किया जाता है। लिखेंगे अलग-अलग, पर उच्चारण करेंगे एक ही ढंगसे। तुलसीदास संस्कृतके प्रकांड विद्वान् थे, परन्तु वह लोगोंको उठानेके लिए स्वयं झुके, जैसे माता झुककर अपने बच्चेको उठा लेती है। पर आजकलके हमारे पब्लिशर लोग क्या करते हैं?

हम लोग गुलाम बन गये और गुलामीको प्यार भी करने लगे। अब अभिमान भी करते हैं। आप देखेंगे कि हमारी भाषा और देहाती भाषामें अंतर पड़ रहा है। हमारे ग्रंथ आम जनतातक नहीं पहुँच सकते। संतोंने देखा कि हमको देहाती भाषामें बोलना और लिखना चाहिए। गांधीजी ने देखा कि जबतक अंग्रेजी भाषामें सोचते रहेंगे, तबतक हम गुलाम ही रहेंगे। मैं मानता हूं कि अंग्रेजीसे हमारा कुछ फायदा हो सकता है। लेकिन अंग्रेजी भाषा और हमारी भाषामें बड़ा फर्क है। हम लोग कहते हैं 'आत्म-रक्षा'। आत्माके मानी शरीर नहीं है। पर अंग्रेजीमें आत्म-रक्षा है 'सेल्फ-डिफेंस'। हरेक भाषामें उसका अपना-अपना स्वतन्त्र-भाव रहता है। जबतक हम अंग्रेजी-द्वारा ही सोचते रहेंगे, तबतक हममें स्वतन्त्र-भाव पैदा नहीं होगा; यह गांधीजीने देखा। लोग समझते हैं कि अंग्रेजीसे ही हमें ज्ञान मिलता है। अगर किसी देशके बारेमें जानकारी प्राप्त करनी हो तो अंग्रेजी पुस्तक पढ़ना पर्याप्त समझते हैं। अंग्रेजी-नेत्र द्वारा ही सभी बातोंको देखते हैं और खुद अंधे बनते हैं। अबतक हमने प्रत्यक्ष परिचय नहीं पाया है। अंग्रेजी किताबों-द्वारा ही ज्ञान संपादन करते आये हैं। अंग्रेजी भाषाके कारण हम पुरुषार्थ-हीन हो गये हैं। यहां ऐसा मैंने सुना कि दो श्रेणी पढ़नेके बाद बच्चोंको अंग्रेजी सिखाई जाती है। वर्धा की शिक्षा-योजनाके अनुसार हमने ७ बरसकी पढाईमें अंग्रेजीको बिलकुल स्थान नहीं दिया है। क्योंकि हम मातृभाषाको पहले स्थान देना चाहते हैं और उसी माध्यम-द्वारा सभी विषय पढ़ाना चाहते हैं। अंग्रेजी भाषा-द्वारा जब हम कोई बात समझते हैं तो वह अस्पष्ट होती है। मैंने देखा कि एक अनपढ़ किसानका दिमाग साफ रहता है, पर एक एम० ए० का दिमाग साफ नहीं होता। इसका कारण यह है कि एम० ए० जितना विषय सीखता है सब-का-सब पराई भाषाके द्वारा सीखता है। बच्चा पहले मातृभाषामें सीखता है। यह सब गांधीजीने देखा और यह सोचकर कि राष्ट्रभाषा बननेसे कम-से-कम १० करोड़ लोग अपनी भाषाको अच्छी तरह सीख पायेंगे, हिन्दीको राष्ट्रभाषाका रूप दिया। २३ सालोंमें, मैंने सुना है कि दक्षिणमें करीब १२ लाख लोग हिंदी सीख चुके हैं।

आजकल हिंदी, हिंदुस्तानी और उर्दू का झगड़ा है। मुझसे जब कोई पूछता

है कि आप हिंदीको चाहते हैं, हिंदुस्तानीको या उर्दूको ? तो मै उनसे पूछता हूं कि आप 'माता'को चाहते है या 'मां' को ? मुझे हिंदुस्तानी और उर्दूमे फर्क नहीं मालूम होता । दाढ़ी बढ़ानेमे और उसकी हजामत करनमें जितना फर्क है उतना ही फर्क हिंदी और उर्दूमें है—बढ़ी दाढ़ी उर्दू है, सफाचट हिंदी । क्योंकि हम देखते है कि दाढ़ी १५ दिनमें बढ़ती है। अंग्रेजीमें मिलटन और वर्डस्वर्थकी भाषामें जितना फर्क है उतना ही फर्क हिंदी और उर्दूमे है। दो-चार उर्दू शब्दों या संस्कृत शब्दोंसे भाषा कभी नहीं बदलती । मै मद्रासमे अब जो भाषा बोल रहा हूं उसमे संस्कृत-शब्दोंका प्रयोग कर रहा हू। अगर मै पंजाब गया तो उर्दू शब्दोंका, जो मैं जानता हू, इस्तेमाल करूगा। अतएव आपसे मेरी प्रार्थना है कि आप हिंदी, हिंदुस्तानी और उर्दूमे कुछ भी फर्क न करे । उनमे फर्क नहीं है। हिंदी और उर्दूमें जो बैलेंस लाया गया है वह है हिंदुस्तानी । आपको मालूम है, गांधीजी 'बैलेंस्ड डायट'के हिमायती हैऔर उन्होंने इसको हिंदुस्तानी नाम दिया है। आप इन झगड़ों में मत पड़िये । जिस झगड़ेमें कोई अर्थ नहीं उस झगड़ेमें पड़नेसे फायदा ही क्या ?

और एक बात मुझे कहनी है। आप जिस कार्यमें लगे हैं वह युद्ध-विरोधी कार्य है। आज जो युद्ध चल रहा है वह दुनियामें केवल द्वेष बढ़ाने वाला है। हिंदीका प्रचार प्रेमका प्रचार है । इसलिए मैं इसको युद्ध-विरोधी प्रचार मानता हूं। अगर कोई हिंदुस्तानी बच्चेसे पूछे कि तुम्हारे कितने भाई हैं तो उसको कहना चाहिए—"हम चालीस करोड़ है।" आजकल हममें प्रांतीय झगड़ा भी है। एक प्रांतकी सीमापर दो तरहके लोग रहते है और वे झगड़ते है कि अमुक स्थान हमारा है। अगर कोई मुझसे यहां पूछे कि डेनजिग कहां है तो मैं कहूँगा डैनजिग वहींपर है जहां वह खड़ा है। हिंदुस्तानमें अनेक भाषाओंको और अनेक धर्मोंको रहना है । इसलिए अगर यहां ऐसे छोटे-मोटे झगड़े हुए तो हिंदुस्तान जैसा बदनसीब कोई देश नहीं होगा। हम सब एक हैं, यह भाव पैदा करनेके लिए हमारे पास कोई साधन होना चाहिए । वह साधन है राष्ट्रभाषा ।

राष्ट्र-भाषा प्रांतीय भाषाकी जगह नहीं लेगी । मातृभाषाके लिए भी प्रेम की जरूरत है। पाश्चात्य लोगोंसे हमने 'अभिमान' शब्द सीखा है। पर

इसमें देशप्रेम नहीं है। पेट्रियाटिज्म् क्या चीज है ? वह देश-प्रेमका अपभ्रंश है। राष्ट्रभाषाका अपभ्रंश है पेट्रियाटिज्म। इसलिए आप लोगोंको मातृभाषाका अभिमान नहीं, प्रेम रखना चाहिए। राष्ट्रका अभिमान नहीं, राष्ट्र-प्रेम रखना चाहिए। हम राष्ट्रभाषाका प्रेम चाहते हैं। राष्ट्रभाषाका प्रचार युद्ध-विरोधी संदेशका प्रचार है। अगर हम मानव-समाजमें प्रेम बढ़ाना चाहते हैं और मानव-समाजको प्रेमकी नींवपर स्थापित करना चाहते हैं तो एक-दूसरेका संबंध कायम रखनेके लिए रेलवे काम नहीं देगी; रेडियो काम नहीं देगा। आपके अंतरात्माका प्रेम काम देगा। इसी प्रेमके प्रचारके लिए हिंदी प्रचार-सभा स्थापित है।

सर्वत्र आत्मा एक है। आत्माकी भाषा सर्वत्र समान होती है। जैसे दुनिया भरका कौवा एक ही भाषा बोलता है वैसे ही दुनियामें मानव-भाषा एक है। यह हृदयके अंतरतमकी भाषा है। मानव-मात्रकी एक भाषा है। जो आत्मभाव उपनिषद्में है वह ईसप्स फेबल्समें है। लड़कोंको ईसप्स फेबल्स पढ़ने में बड़ा आनंद आता है। क्योंकि वे आत्माको पहचानते हैं। आत्माकी भाषाके प्रचारमें राष्ट्रभाषा का प्रचार पहला कदम है। आत्माकी भाषा जब समझ लेंगे तब सबकी आत्माको समझेंगे। स्त्री-पुरुषकी आत्मा एक है, हिन्दू-मुसलमानकी आत्मा एक है। उत्तर और दक्षिणकी आत्मा एक है, इसको पहचाननेके लिए ही यह राष्ट्रभाषाका प्रचार है। मैंने अपने हृदयकी बातें आपके सामने रक्खीं इससे ज्यादा और कुछ कहना नहीं है।[१]

(हिन्दी प्रचार समाचार : मद्राससे—जनवरी, १९४२)

: १० :

सरकारकी चुनौतीका जवाब

जब-जब मैं जन-समूह के सामने बोलने खड़ा होता हूं, तब-तब हमेशा मेरे हृदयमें अत्यंत उत्साह भरा होता है। क्योंकि आप भाई-बहिनोंके दर्शनमें एक

[१] द० भा० हिंदी प्रचार सभा, मद्रासके ग्यारहवें पदवीदान समारंभपर दिये गये दीक्षांत भाषणकी रिपोर्ट—।

प्रकारकी पावनता अनुभव होती है। मगर मुझे कबूल करना चाहिए कि आज आपके सामने बोलनेमें मुझे हमेशाका-सा उत्साह अनुभूत नहीं होता। इसका कारण यह ह कि जिस तरह हम लोगोंकी रिहाई हुई है और आपके सामने बोलनेका प्रसंग आया है, उसमें उत्साह का कारण नहीं है; उल्टे उदासीनताका कारण है। आपमेंसे बहुतों को आनन्द होता होगा कि जेलमेंसे हमारे भाई छूटकर हमारे बीचमें आ गये हैं और हमसे मिलेंगे। परन्तु मिलनेका आनन्द भी, परिस्थिति विपरीत हो, तो विलीन हो जाता है। जरा-सा विचार करके देखनेसे ध्यानमें आ जायगा कि आजका मिलना आनन्दका विषय नहीं है।

सरकारने सत्याग्रही कैदियोंको छोड़नेका निश्चय किया है, इसकी जड़में सद्भावना प्रतीत होती, तो वह अलग चीज होती। परन्तु आजतक एमरी साहबके जो व्याख्यान-प्रवचन, आये दिन सुननेको मिले, उनपर ध्यान देनेसे दूसरा ही दृश्य दिखाई देता ह। हम जेलमें अपने-आप गये थे। हमारे सामने भाषण-स्वातंत्र्यका बड़ा भारी सवाल था। वह जबतक हल न हो जाय, तबतक जेलसे बाहर रहना हमारे लिए जहर जैसा है। परन्तु सरकारने एक जाल बिछाया है। हमें छोड़नेमें उसकी ऐसी कल्पना और इच्छा मालूम होती है कि हम लोग जो वाक्-स्वतंत्रताके संग्राममें सत्याग्रह करके जेलमें गये, वे बाहर आनेपर लोप हो जायंगे और सरकारका काम अपने-आप हो जायगा। यह सरकारने बड़ी चतुराईका काम किया है। हमें चाहिए कि हम इस जालमें फंसकर अपनी लड़ाई बंद न करें; बल्कि और भी तीव्र बनावें। अहिंसाके उपासकके नाते ससारमें चलनेवाली हिंसाका विरोध करनेका हमारा यह मूलभूत अधिकार और कर्तव्य जबतक सिद्ध नहीं होता, अर्थात् जनताके सामने हमे अपने विचार अहिंसक रूपसे आजादीके साथ रखनेका अधिकार नहीं मिल जाता, तबतक हमारा यह धर्म है कि हम अपना अहिंसक युद्ध जारी रक्खें। जारी रखनेका यह अर्थ है कि हम उसे और भी जोरके साथ चलावें।

अधिक जोरके साथका क्या अर्थ है? हिंसक और अहिंसक युद्धकी परिभाषामें भी अंतर है। हिंसक युद्धमें साधनोंकी हिंसकता बढ़ाई जाती है और अहिंसक युद्धमें उनकी शुद्धता। हिंसक युद्धमें हम क्या करते हैं? विरोधीके

हथियारोंके सामने जब हमारे हथियार असमर्थ साबित होते हैं, तो उनसे भी ज्यादा भयानक हथियार हम खोजते हैं और उसका प्रयोग करते हैं। यह प्रक्रिया आज यूरोपकी लड़ाईमें प्रत्यक्ष हो रही है। चर्चिल साहब कहते हैं कि अगले साल हम जर्मनीसे भी ज्यादा हिंसक और भयानक शस्त्रास्त्र तैयार करेंगे। हिटलर की रणगाड़ियों (टैंकों) से अधिक तादादमें और अधिक भयानक रण-गाड़ियां बनवायेंगे; तब हमारी जीत होगी। इस प्रकार-एक दूसरेकी अपेक्षा ज्यादा हिंसक शस्त्रोंका निर्माण दोनों दल करते है।

अहिंसक युद्धकी रीति इससे जुदी है। अंग्रेज सरकारने हमें छोड़कर यह चुनौती दी है कि, "अरे, हिंदुस्तानके छूटे हुए गुलामो! अगर तुम्हें स्वतंत्रता चाहिए, तो तुम और जोशसे लड़ो।" मगर इसका जवाब हम अहिंसक रीतिसे कैसे देंगे? हिंसक लड़ाईमें ऐसी चुनौती का जवाब साधनोंकी हिंसकता बढ़ाकर दिया जाता है। अहिंसक लड़ाई ज्यादा जोशके साथ चलानेका तरीका दूसरी तरहका है। अहिंसक युद्ध अधिक जोरसे चलानेका मतलब साधनोंकी शुद्धता बढ़ाना और अधिक आत्मशुद्धि करना है। हमारे इस छुटकारेकी बुराईमेंसे यह भलाई निकली है। ईश्वरकी कृपासे अंग्रेज सरकारको हमें जेलमें डालनेकी प्रेरणा हुई। इसलिए हमें आत्म-परीक्षणका और जिन साधनोंको हमने शुद्ध समझकर अपनाया था उनकी शुद्धता परखनेका सुयोग मिल गया। हमारे साधनोंमें जो कुछ अशुद्धि रह गई हो, उसे दूर करके अब हमें अधिक तीव्रतासे लड़ना चाहिए। अहिंसक प्रक्रियामे ज्यादा जोरके साथ लड़नेका अर्थ यही है।

अपने साधनोंमें छिपी हुई अशुद्धिका निरीक्षण करनेका अवसर हमें जेलमें मिलता है। लेकिन मुझे खेदके साथ स्वीकार करना पड़ता है कि जेलमें जितनी संयमशालता और मर्यादा रखनी चाहिए थी उतनी हममेंसे बहुत-से न रख सके। शायद इसीलिए परमेश्वरने हमें फिर विचार करनेका यह अवसर दिया है कि हम अपने औजारोंको कैसे शुद्ध करें। जेलमें हमें छूट मिले या हमारे साथ ढीलका बर्ताव हो तो भी हमारे संयम, विवेक और तपश्चर्याका सरकार, अधिकारी-वर्ग और दूसरे लोगोंपर अनुकूल परिणाम होना चाहिए। लेकिन हमने तो यह किया

कि जितन भाग प्राप्त हो सके, प्राप्त किये। ऐसी हालतमें अगर हमें लड़ाई जोरसे चलानी है तो ज्यादा शुद्ध कसौटीपर उतरकर सत्याग्रह करना चाहिए। तभी हमारे अगले सत्याग्रहमें अधिक बल आवेगा। अगर हम अपनी लड़ाई अधिक शुद्ध मनसे, अधिक शुद्ध जनसे और अधिक शुद्ध योजनासे चलायेंगे तो वह निःसंशय सफल होगी।

एक सवाल यह उठाया गया है कि इस छुटकारे को सरकारकी सद्भावना समझकर हमें अपना कार्यक्रम क्यों न बदलना चाहिए? इसपर मुझे रविबाबू-का एक उक्ति याद आती है। उन्होंने कहा है कि भारतवर्ष एक महामानव-सागर है। यह यूरोप के एक-एक करोड़के नन्हें-नन्हें देशोंके समान, टूटपूंजिया नहीं है। जिनके अलग-अलग धर्म, अलग-अलग भाषाएं, अलग-अलग रहन-सहन, भिन्न-भिन्न प्रांत, जुदे-जुदे रीतिरिवाज है, ऐसे चालीस करोड़ भाई-बहनोंका यह देश एक महान् सयुक्त कुटुम्बके समान है। यह हमारा सद्भाग्य है। इस विविधताके कारण इतने बड़ सागरमें तरह-तरहकी लहरें उठती है, भिन्न-भिन्न विचार उत्पन्न होते हैं। इसी तरहका एक खयाल यह भी है कि कार्यक्रम बदला जाय। लेकिन सवाल यह है कि क्यों बदला जाय? क्या जिस मुद्दपर हमारी लड़ाई शुरू हुई थी वह मान लिया गया? उसकी खातिर हम बाहर से जेलके भीतर गये थे। अब वह मांग स्वीकार किये बिना हमें फिर बाहर-भेज दिया गया। तो भी अगर कार्यक्रममें परिवर्तन करना है, तो हम जेल गये ही क्यों थे? जेल जानेसे पहिले तो हम आजाद थे ही। हमारी मांग स्वीकार न होनेपर भी अगर हम कार्यक्रम बदल देते हैं तो उसका अर्थ यह है कि वह मांग ही छोड़ देने योग्य है। मैं आपसे कहना चाहता हूं कि जिस मुद्देपर हमने यह अहिंसक लड़ाई छेड़ी है वह छोड़नेके लायक नहीं है। बहुत से अधिकार ऐसे होते है कि उनका व्यवहारमें लाना सदा आवश्यक नहीं होता। लेकिन भाषण-स्वातंत्र्यके अधिकारपर अमल न करनेसे काम नहीं चलेगा।

भाषण-स्वातंत्र्य तो हमारा अधिकार ही नहीं है, धर्म है। धर्मका तो पालन सदा करना ही पड़ता है। हमें आज जो भी बल मिला है, वह पिछले बीस वर्षकी

अहिंसाकी साधनासे मिला है। आप लोगोंमेंसे जो मुझसे बड़े या मेरी उम्रके हैं, वे जानते हैं कि तीस वर्ष पहले हिन्दुस्तानकी क्या हालत थी। उस वक्त हम 'वंदेमातरम्' बोलनेसे घबड़ाते थे और 'स्वराज्य चाहिए, कहना भयानक था। शरीर को सुगठित करनेके लिए अखाड़े खोलते, तो वे भी भयानक माने जाते। बीस-पच्चीस वर्ष पहले हमारी ऐसी हीन-दीन दशा थी। होती भी क्यों न? जब कि दो सौ वर्षसे हम निःशस्त्र और परतंत्र थे। हम अपनी बुद्धि, लक्ष्मी और शक्ति सब कुछ गंवा चुके थे। ऐसी हालतमें हम कैसे समर्थ हुए? इतनी बलवान सरकारका विरोध—और सो भी पचास वर्षतक—लगातार करनेकी शक्ति क्योंकर कांग्रेसमें आई? यह किस जादूकी लकड़ीका प्रताप है?

परसों एक जर्मन वक्ताने बड़े गर्वसे कहा था कि अब यूरोप निःशस्त्र हो गया है और हमारी रणगाड़ियां शांति कायम रख लेंगी। यह विश्वास रिबन-ट्रॉपको इसी आधारपर हुआ कि टैंकके सामने निहत्थी प्रजा क्या कर सकती है? वह जरा भी चीं-चपड़ करेगी तो दबा दी जायगी। यही श्रद्धा अंग्रेजोंकी थी कि जिस हिंदुस्तानके हथियार छीन लिये हैं, उसपर हमारा पंजा आराम-से रहेगा। वे समझते थे कि हम अपने शस्त्रास्त्रोंके जोरपर निःशस्त्र हिंदुस्तान में बड़ी आसानीसे शांतिका प्रचार करेंगे। किंतु इस तरहकी दुर्दशामें पड़े हुए देशने इतने जबरदस्त साम्राज्यसे टक्कर लेनेवाली कांग्रेस-जैसी महान् संस्था कैसे खड़ी कर ली? यह अहिंसाका ही चमत्कार है। अहिंसाके तत्त्वमें संगठन करनेकी बड़ी शक्ति है।

यह युग संघ-बलका युग है। पहले तो इक्के-दुक्के आदमियोंके बलसे भी काम चल जाता था, परंतु इस जमानेमें बलवान संघटनके बिना सत्ता नहीं मिल सकती। यूरोपमें वह संघटन हिंसाके आधारपर होता है। तो भी वहांके देशोंको हिंसाको राष्ट्रव्यापी बनाना पड़ता है; तभी वे मुकाबिला कर सकते हैं। देखिए, रूसने एक करोड़ सेना खड़ी की है। यह कोई छोटी बात नहीं है। फिर भी, उसके पैर लड़खड़ा रहे हैं। बात यह है कि हिंसामें शत्रुसे भी प्रचंड होना चाहिए। फुटकर हिंसक बेकार होता है। या तो अत्यन्त व्यापक और तीव्र

स्वरूपका संघटन होना चाहिए; या बिल्कुल नहीं। और कोई चारा नहीं है। गुप्तरूपसे षड्यंत्र करके दो-चार खून करनेसे विजय नहीं मिलती। राष्ट्रके तमाम लोगोंको उसी काममें जुट जाना पड़ता है। इंग्लैंडको देखो। वहां स्त्रियों तककी भरती हो रही है। साढे अठारह वर्षसे ऊपरके तो सभी स्त्री-पुरुष जबरन भर्ती किये जा रहे हैं। सोलहसे साढ़े अठारह वर्षके तरुण-तरुणियोंको भी भरती होनेके लिए प्रेरणा, उत्तेजन और प्रोत्साहन दिया जा रहा है। इतना भयानक संगठन करने पर कहीं आशा हो सकती है। नहीं तो चुपचाप गुलाम बनकर टैंकके आगे सिर झुकाओ। यूरोपमें ये ही दो मार्ग पाये जाते हैं।

लेकिन महात्माजीने हमारी संस्कृति और स्थिति देखकर हमें एक नया हथियार दिया है। वह है अहिंसा। इसमें जागृति और संगठनकी कितनी विलक्षण शक्ति है। यह हमारे जैसे निःशस्त्र, विशाल और पराधीन देश की आजकी निर्भयतासे साबित है। चोरी-चुपकेकी हत्यामें यह शक्ति नहीं है। क्या हम इतनी बड़ी शक्तिको खो बैठें? फिर तो अंग्रेजों की शरण जानेके सिवा हमारे पास और कोई उपाय ही नहीं रह जायगा। हम ऐसे शस्त्रको हरगिज न छोड़ेंगे। उसे हम और भी तेजस्वी बनायेंगे। चुपचाप नहीं बैठेंगे। जब इतना भयंकर हिंसा-कांड हो रहा है, दुनिया तबाह की जा रही है और हमारे देशको भी उसमें घसीट लिया गया है, तो हम उसके विरोधमें प्रचार किये बिना कैसे रह सकते हैं?—लोगोंसे यह कहे बिना हम कैसे रह सकते हैं कि लड़ाईमें शामिल मत होओ। इस वक्त अगर हम चुप रहेंगे तो सारा राष्ट्र खस्सी हो जायगा। हम गुलाम बने रहेंगे। यह भाषण-स्वातंत्र्य कोई मामूली अधिकार नहीं है; वह हमारा महान् कर्तव्य है। जबतक उसे पूरा करनेका अधिकार न मिले, तबतक खाली छुटकारेके जाल में फंसकर हम अपनी लड़ाई बंद कैसे कर सकते हैं? यह हुआ शुद्ध, अर्थात् आत्यंतिक अहिंसाके पहलूसे विचार।

एक दूसरी भी दृष्टि है। वह यह कि 'हमारे लिए हिंसा-अहिंसा का मुद्दा प्रधान नहीं है। हम तो साम्राज्यवादी युद्धमें मदद नहीं करना चाहते। और

जबतक सिर्फ अंग्रेजोंका ही सवाल था, तबतक उनका साथ न देना ठीक था। लेकिन रूसके शामिल होनेसे लड़ाई का स्वरूप ही बदल गया है। वह साम्राज्य वादी राष्ट्र नहीं; समाजवादी मुल्क है। अब तो जो लोग इस युद्धको साम्राज्य-वादी और साम्राज्यवादको बढ़ानेवाला समझकर उसका विरोध करते थे, उन सबको चुप रहना चाहिए। लेकिन इस बारेमे एक सवाल उठता है—'अंग्रेज और रूसकी दोस्तीका क्या मतलब है?' या तो इंग्लेडने साम्राज्यवाद छोड़ा होगा या रूस अपने आदर्शसे कुछ नीचे उतर आया होगा। अबतक जो घटनाएं घटी हैं, उनसे साफ है कि रूस हा अपने आदर्शसे गिर रहा है। यों तो रूस अपने आदर्शसे पहिले भी कुछ कुछ गिर चुका था। इस पतनके बीज रूसी क्रांतिमे ही थे। और उसकी योजनामें भी हिंसाको स्थान है। मतलब यह कि रूसमें पहले हीसे हिंसक शक्ति थी। अब वह बढ़ गई है।

हिंसक शक्तिका विरोध कांग्रेसके तत्त्वज्ञानमे है। लेकिन साम्राज्यवादकी बिनापर जो विरोध किया जाता था वह भी कायम ही रहता है। क्योंकि इंग्लैंड की साम्राज्यवादी मनोवृत्तिमें कोई फर्क नहीं हुआ है। अगर हुआ होता तो उस-का प्रकाश हिन्दुस्तानमे जरूर पड़ता। इंग्लेडके रुखमें कोई फर्क नहीं पड़ा है। ऐसे साम्राज्यवादी राष्ट्रसे रूसने हाथ मिलाया है। ऐसी हालतमें यह नहीं कहा जा सकता कि युद्धका स्वरूप बदल गया है। उल्टे रूस और इंग्लेडके मिल जाने से तो युद्धकी हिसकता और भी बढ़ेगी और इंग्लैडके साम्राज्यवादकी छूत रूसको भी लगेगी। इसलिए साम्राज्यवादके विरोधके कारण भी हमें सत्याग्रह जारी रखना चाहिए।

एक तीसरी बात यह कही जाती है कि पार्लमेंटरी कार्यक्रम क्यों न शुरू किया जाय? यह कौंसिलोंका मोह उसी हालत में अच्छा हो सकता है, जब राष्ट्रके हाथमें सच्ची सत्ता होती है। आज वह सत्ता कहां है? आज तो पार्ल-मेंटरी कार्यक्रम फिरसे शुरू करनेका मतलब सरकारके जालमें फंसना होगा। एसेंबलीमें जाकर कमांडर-इन-चीफकी हाँ-में-हाँ मिलानी होगी। ठीक वही हाल होगा जैसा कि हमारे यज्ञयागादि धार्मिक समारंभोंमें होता है। पति संकल्प करता है, पत्नी उसके हाथमें हाथ लगाकर अनुमोदन देती है। इसके माने यह

हैं कि हिंदुस्तान खुशीसे युद्ध में धन-जनकी सहायता दे । इसका यही अर्थ हुआ कि हम सरकारके दरबारमें जायें और वहां भारतके सेनापति वेवेल साहबके प्रवचन सुनकर हिंसक कार्यमें उनकी मदद करें। फिर तो कांग्रेसको अहिंसा-द्वारा स्वराज्य लेनेका अपना उद्देश्य बदल देना होगा । लेकिन गांधीजीको और मुझ-जैसे असंख्य व्यक्तियोंको यह बात नहीं जंचती कि हिंसाके मार्गसे स्वराज्य मिलेगा। इसीलिए हमें पार्लमेंटरी प्रोग्राम (दरबारी राजनीति) नहीं जंचती।

इसलिए हमें इस युद्धका यथाशक्ति विरोध करना ही चाहिए। हां, हमको अपने साधन पहले की अपेक्षा अधिक शुद्ध रखने होंगे । जो लोग जेल जायं, उन्हें अधिक संयमशीलता, अधिक कर्तव्यनिष्ठा और अधिक भक्ति रखनी होगी। इसका वातावरणपर शुभ परिणाम होगा । इतनी दक्षता और सावधानीसे हमें आगे बढ़ना चाहिए।

मगर जेल जानेवालोंमें युद्धके प्रतिकारकी शक्ति कहांसे आयेगी ? वह तो तब आयेगी, जब आप सबका सहयोग और अनुमोदन होगा, हम आप सबके प्रतिनिधि होकर जायंगे और आपमें और हममें एकसूत्रता रहेगी। तभी युद्ध-विरोधी प्रचारमें शक्ति पैदा होगी। जब हमारे विचारके पीछे आपका समर्थन होगा, तभी सत्याग्रहमें प्रचण्ड शक्ति आयेगी। खाली हाथ उठाकर समर्थन करनेसे काम नहीं चलेगा। देखिए, यूरोपवाले अपनी आजादीके लिए कितना बलिदान कर रहे हैं ? लाखों आदमी और विपुल धन कुर्बान किया जा रहा है। इसी तरह आपको प्रत्यक्ष सहयोग देना होगा । वह सहयोग इसी तरह हो सकता है कि लाखों लोग रचनात्मक-कार्यक्रममें भाग लें। केवल हाथ उठाने-के त्यागसे काम नहीं चलेगा। अगर आप लोगोंका सहयोग सजीव और व्यापक हो तो जेलमें भले मुट्ठीभर ही आदमी चले जायं, तो भी हम सफलता प्राप्त कर सकते हैं। हनूमानका उदाहरण आपको मालूम है । वह अकेला लंकामें पहुंचा था। महाबली राक्षसोंके बीच इस तरह पहुंचकर पराक्रम करनेकी शक्ति उसमें कैसे आई ? यह पराक्रम उसने किसी अखाडेमें कसरत करके प्राप्त नहीं किया था। जब इस निर्भयताका कारण उससे पूछा गया, तो उसने

कहा, 'मेरा असली बल शरीरबल नहीं है। श्रीरामचन्द्रका पृष्ठ-पोषण ही मेरे इस पराक्रमका आधार है। मैं रामका दास हूं।'

कहावत है कि 'पंचोंमें परमेश्वर' होता है। जनता ही जनार्दन है। उस देवताका समर्थन हमारा सच्चा बल है। वह समर्थन रचनात्मक आचारके रूपमें ही हो सकता है।

हिंसात्मक युद्धकी तैयारीमें भी अखंड विधायक कार्यक्रमकी आवश्यकता होती है। हिंसक युद्धमें सिर्फ सेना ही नहीं लड़ती। समूचे राष्ट्रको विधायक कार्यमें जुटजाना पड़ता है। जब प्रचंड विधायक संगठन होता है, तभी हिंसक युद्धकी तैयारी होती है। युद्धकी सामग्री बनाने के लिए बडे-बड़े कारखाने खोलने और चलाने पड़ते हैं, रास्ते और पुल बनवाने पड़ते हैं, वर्दियां बनवानी पडती हैं, खेती और दूसरे उद्योगों-द्वारा खुराक और रसद का प्रबन्ध करना पड़ता है लड़के-लड़कियोंको पाठशालाएं छोड़कर इस काममें लग जाना पड़ता है, स्त्रियोंको घरका काम सम्हालकर युद्धकी विधायक तैयारीमें हाथ बटाना पड़ता है। जरा हिटलरसे पूछिए तो वह कहेगा कि मुझे चौदह आने विधायक कार्य करना पड़ता है और सिर्फ दो आने प्रत्यक्ष लड़ाईका काम। सेना लड़ती है, परंतु सारा राष्ट्र उसके पीछे काम करता है। स्त्रियां सीने-पिरोनेका, मरहम-पट्टीका और सेवा शुश्रूषाका कार्य करती हैं। छोटे-छोटे बालक भी कारखानोंमें आने बूनेका काम करते हैं। बूढे अपने लायक काम करते हैं। हां, इस सारे विधायक कार्यका उपयोग तो हिंसक लड़ाईके ही लिए होता है। लेकिन वह कार्य अपनेमें विधायक ही होता है। जब हिंसात्मक युद्धमें जनताके इतने विधायक-सहयोगकी आवश्यकता है, तब अहिंसक लड़ाईकी तो बात ही क्या? उसमें तो सोलह आने शक्ति रचनात्मक कार्यकी ही है।

खाली युद्ध-विरोध सफल कैसे हो सकता है? युद्ध-विरोधी सत्याग्रह तो ऐसा है जैसे चिरागको दियासलाई लगाकर सुलगाते हैं। लेकिन चिराग किस शक्तिके आधारपर प्रकाश देता है?—बत्ती और तेलके आधारपर। वह न हो तो दिया प्रकाश नहीं दे सकता। सारी बत्तीको तेलसे पोषण मिलता है। दियासलाई तो निमित्तमात्र होती है। बत्तीका एक सिरा दियासलाईसे जला देनपर

चिराग अखंड जलता रहता है। उसी तरह सिर्फ युद्धविरोधकी दियासलाईसे काम नहीं चलेगा। जबतक रचनात्मक-कार्यक्रमका तेल और बत्ती नहीं होगी, तबतक प्रकाश नहीं पड़ेगा, दिया नहीं जलेगा। अगर तेल और बत्ती होगी और बत्तीको तेलकी खुराक बराबर मिलती रहेगी, तो युद्ध-विरोध सफल होगा, तेजस्वी होगा। लाखों नर-नारी जब रचनात्मक कार्य-द्वारा सत्याग्रह-रूपी दीपकको तेल-बत्ती पहुंचाते रहेंगे, तभी उसकी ज्योति अखंड और प्रचंड रहेगी।

इस तेलके भंडारको भरपूर रखनेके लिए हिंदू-मुस्लिम एकता होनी चाहिए। लेकिन वह कैसे हो? हमें एक-दूसरेका विश्वास करना सीखना चाहिए। हजार-हजार और बारह-बारह सौ वर्षसे हम एकत्र रह रहे हैं। फिर भी आपसमें अविश्वास और डर है। उसे बिलकुल नष्ट कर देना चाहिए। दूसरी महान् विधायक प्रवृत्ति हरिजन-सेवा है। हमें अपने हरिजन भाइयोंको नजदीक लेकर उनके साथ कुटुंबियोंका-सा बर्ताव करना चाहिए। घर-घरमें चर्खा भी चलना जरूरी है। हमारा राष्ट्र गरीब है। वह तो जब दोनों हाथोंसे काम करेगा, तभी भूख मिटेगी।

एक गृहस्थने मुझ से कहा, "मेरे यहां तो खानेवाले छः-सात मुंह हैं।" जवाबमें मानो ईश्वरकी वाणी ही मेरे मुंहसे निकली। मैंने कहा, "घबड़ानेकी क्या बात है? सात मुंह हैं तो चौदह हाथ भी तो हैं? यह तो ईश्वरकी दयालु और प्रेममय योजना है कि उसने एक मुंहके पीछे दो हाथ दिये हैं; दो हाथोंके पीछे एक मुंह नहीं।" हम चालीस करोड़ हैं। हमारे अस्सी करोड़ हाथोंमें कितनी शक्ति भरी है! यह हमारा दुर्भाग्य या मुसीबत नहीं है; महान् सद्भाग्य और लक्ष्मी है। दोनों हाथ काममें लगाइए। सूत कातनेका काम बिलकुल आसान है। लड़ाईकी वजह से आज मिलका कपड़ा बहुत महंगा हो गया है। लड़ाईका कोई ठिकाना नहीं कबतक चले। मुझे तो वह लंबी जाती दीखती है। ऐसी हालतमें महंगाईके कारण कदाचित् कपड़ेके अभावमें हम सभाको जाड़ेके दिनोंमें ठिठुरना पड़े: परावलंबीका यही हाल होता है। लेकिन सूत कातनेका काम तो बच्चे, बूढ़े, कमजोर सभी कर सकते हैं।

स्वावलंबनके अलावा एक दूसरी दृष्टि भी है । देशके लिए हररोज कुछ-न-कुछ करना चाहिए। इस तरहकी प्रत्यक्ष क्रिया कौन-सी हो सकती है ? हमें अपने बच्चोंको कातनेके संस्कारमें भी वैसी ही भावना देनी चाहिए जैसी तुलसीकी पूजामें । बचपनमें हमारी मा हमें तुलसीमें पानी डालनेके लिए कहा करती थी । हर एक घरमें इस तरह प्रत्यक्ष क्रियाके द्वारा बच्चोंके दिलमें धर्म-प्रीतिका संस्कार पैदा किया जाता था । प्रत्यक्ष उपासना सिखाई जाती थी । हम भी छोटे बच्चोंसे प्रतिदिन देशप्रीतिके प्रतीकके रूपमें प्रत्यक्ष कार्य करावें । राष्ट्र-प्रेमकी द्योतक इस क्रियामें हमें अभिमान मालूम होना चाहिए ।

इसी तरह सब तरहके व्यसन छोड़ने चाहिए ।

याद रक्खो अगर सब लोग रचनात्मक काम करेंगे, तो हमारी सत्याग्रहकी लड़ाईमें वह जोर पैदा होगा जिसको कोई शक्ति दबा न सकेगी । फिर आपके लिए 'पराजय' जैसा कोई शब्द ही नहीं रहेगा । मुझे हमारी अंतिम विजयके बारे में तनिक भी संदेह नहीं है । मेरे मित्रो, सिर्फ आपका सक्रिय समर्थन चाहिए।[1] (सर्वोदय : जनवरी, १९४२)

: ११ :

हमारी तर्कशुद्ध भूमिका

मुझे पता नहीं था कि मैं यहां अपने अधिकारकी कक्षामें आनेवाला काम करने आ रहा हूं । परंतु प्रारंभमें इस कॉलेज के आचार्यका जो भाषण सुना उससे मालूम हुआ कि मैं अपने अधिकारके ही कामके लिए यहां आया हूं । अभी कहा गया कि यह कॉलेज अगले सत्रमें नागपुर जानेवाला है और इसलिए यह अंतिम प्रसंग है । अक्सर अंतिम अवसरोंपर ही मेरी बुलाहट होती है । मालूम होता है वही मेरा अधिकार है । योग्य स्थानपर योग्य व्यक्तिकी नियुक्ति अपने-आप कैसे हो जाती है यह देखकर आश्चर्य होता है । मैंने जब इस निमंत्रणको स्वीकार किया तो मेरे आसपास रहनेवालोंको जरा आश्चर्य ही हुआ । वे सोचने लगे, 'यह

[1] रिहाईके बाद (७ दिसंबर, १९४१ को) वर्धामें दिया गया भाषण ।

कहांका प्राणी कहां पहुंचेगा' ? ज्ञानदेवने लिखा है, "एक जंगली जानवर पकड़-कर राजमहलमें—कोलाहलसे भरे राजमहलमें—लाया गया। बेचारा हैरान हुआ कि कैसे शून्य स्थानमें आ पहुंचा हूं। उसे दसों दिशाएं सुन-सान प्रतीत होने लगीं।" साथियोंने सोचा कि यहां मेरा भी वही हाल होगा। क्योंकि कॉलेज जैसे स्थानोंका वातावरण और होता है और हमारा वातावरण कुछ और तरहका। इसलिए उनकी शंकाके लिए गुंजाइश जरूर थी।

परंतु मेरे दिलमें इस तरहकी कोई शंका जरा भी नहीं थी। क्योंकि विद्यार्थी चाहे कहींका हो, चाहे कौन-सा भी हो,—वह दूसरे प्रकारका हो सकता है—लेकिन उसकी वृत्ति मेरी वृत्तिसे मेल खाती ह। वह मुझे मेरी आत्मा ही प्रतीत होता है। यह अनुभव मुझे कई बार, याने जब-जब मै विद्यार्थियोंके सामने बोला हूं तब-तब, हुआ है। जब मैं विद्यार्थियोंसे बोलता हूं तो मुझे ऐसा मालूम ही नहीं होता कि मैं किसी दूसरेसे बोल रहा हूं। ऐसा मालूम होता है मानो मेरी आत्मा ही साकार होकर सामने खड़ी है, मै अपने-आपसे ही बोल रहा हूं। कारण मै एक विद्यार्थी हूं। अगर मैं विद्यार्थी न होऊं तो मैं कुछ भी नहीं हूं। यह स्थिति है। आजतक विद्यार्थी रहा हूं और, अगर इस जन्मकी ही बात करूं, तो अंततक भी रहूंगा, ऐसी आशा करनेमें हर्ज नहीं। इसलिए वातावरण चाहे कितना भी भिन्न क्यों न हो, मेरे सामने जब विद्यार्थी होते हैं तो उनमें और मुझमें भेद नहीं रहता। इस विषयमें मुझे कोई संदेह नहीं था। इसीलिए यह निमंत्रण मैंने स्वीकार किया।

लेकिन यहां आनेपर मैं किस विषयपर बोलूं ? मैं समझता हूं कि मै कौन-से काममें लगा हूं, यह जानते हुए, या यों कहिए, यह जाननेके कारण ही मुझे यहां बुलाया है। इसलिए मुझे क्या बोलना चाहिए इसके विषयमें आपकी अपेक्षा स्पष्ट ही है। मैं उस अपेक्षित विषयपर ही बोलनेवाला हूं।

परंतु एक बात मुझे कह देने दीजिए। कारण, प्रस्ताविक भाषणमें मुझसे यह अपेक्षा की गई है कि मैं विद्यार्थियोंको कुछ उपदेश दूं। लेकिन मैं उपदेश हरगिज नहीं दूंगा। क्योंकि मैंने यह सूत्र ही बना लिया है कि जो विद्यार्थियोंको उपदेश देता है वह एक 'पढ़ंत-मूर्ख' (पठित-मूर्ख) है और जो ऐसे उपदेश सुनत

है वह दूसरा पढ़ंत-मूर्ख है। रामदासने पठितमूर्खके लक्षण बतलाये हैं। आप उन्हें जानते हैं। लेकिन मैं देख रहा हूं कि वे लक्षण बराबर बढ़ते चले जा रहे हैं। अब वह पुरानी तालिका कामकी नहीं है।

विद्यार्थियोंको उपदेश देना मूर्खताका लक्षण है, यह कहनेसे मेरा यह अभि-प्राय है कि संसारमें यदि कोई संपूर्ण स्वतंत्रताका हकदार हो सकता है तो विद्यार्थी ही। क्योंकि दूसरे सब लोगोंके पीछे कोई-न-कोई दंड, कठिनाई, दबाव, अंकुश, मर्यादा लगी ही रहती है और लगी रहना उचित भी है। लेकिन विद्यार्थी किसी बंधनसे बंधा हुआ नहीं होना चाहिए। मैं अपने अनुभवसे यह कह रहा हूं। मैं भी विद्यार्थी ही हूं। एक विद्यार्थीकी हैसीयतसे मैं कोई भी बंधन स्वीकारनेको तैयार नहीं हूं। एक नागरिकके नाते मुझपर कुछ बंधन हैं। मैं अपने माता-पिता-का बेटा हूं इसलिए भी कुछ बंधन हैं। मैं अपने मित्रोंका सहयोगी हूं इस कारण भी कुछ बंधन प्राप्त होते है। उन्हें मैं स्वीकार करूंगा, यह बात और है। परंतु विद्यार्थीके नाते मैं किसी बंधनको स्वीकार करनेके लिए तैयार नहीं हूं। विद्यार्थीसे यही अपेक्षा रक्खी जानी चाहिए कि वह तटस्थ वृत्तिसे हरएक बातकी जांच-पड़ताल करे। उसके सामने कोई विषय या ज्ञान इसी अपेक्षासे उपस्थित किया जाना चाहिए। 'क्या उपयुक्त है और क्या अनुपयुक्त है' इसका निश्चय करनेका उसको हक है। इसलिए मैं उपदेश नहीं दूंगा।

ज्ञान का कार्य दर्पणके समान है। दर्पण स्वयं स्वच्छ है। वह देखनेवालेको उसका रूप दिखायेगा। लेकिन आइना उठकर किसीकी नाक साफ नहीं करेगा या जबरदस्तीसे अथवा समझा-बुझाकर नाक साफ नहीं करायेगा। यह काम माता खुशीसे करे। आइना तो इतना ही बतायेगा कि नाक साफ है या गंदी। वह अपनी स्वच्छताके द्वारा सिर्फ दिखानेका काम करता है। अगला कार्य वह देखनेवालेको सौंप देता है। वह उसकी मर्जीकी बात है, उसका हक है। अपने स्वच्छताके गुणकी बदौलत दर्पण देखनेवालेके हकमें दखल नहीं देता। ज्ञानकी प्रक्रियामें उपदेशके बराबर दूसरी गलती नहीं है। हमारे शास्त्रकार इसी सिद्धांतके अनुसार चले। इसीलिए उन्होंने शासन किया। उन्होंने समाजका शासन किया; इसलिए वे शास्त्रकार कहलाये। परंतु उनका शासनका तरीका यह था कि वे

वस्तुका स्वरूप स्पष्टरूपसे दिखाकर चुप हो जाते थे। शास्त्रकारोंकी इस रीतिके अनुसार तुम्हारे सामने विषय उपस्थित करके उचित-अनुचितके निर्णयका अधिकार तुम्हें देकर—वह अधिकार तुम्हें पहलेसे ही प्राप्त है—मैं भाषण करूंगा।

तुम कॉलेजके विद्यार्थी हो। इसलिए वर्तमान परिस्थितिकी तरफ तुम्हारा ध्यान अवश्य गया होगा। उस संबंधमें तुम्हारा श्रवण और वाचन जाग्रत होगा। जरा देखो, आजका जमाना कैसा है? सारे मानव-समाजके पेटमें जबरदस्त दर्द हो रहा है। पृथ्वीके पेटमें भी इसी प्रकारकी वेदना होती है और भूकंप जैसे उत्पात होते हैं। इस भयानक वेदनामेंसे कौन-कौन-से उत्पात संसारमें होनेवाले हैं, यह कोई नहीं बतला सकता। इधर कई सदियोंसे इतना उत्पाती समय हुआ ही नहीं। लोगोंका यह खयाल है कि मानव-समाजका इतिहास पांच-दस हजार वर्षोंका पुराना है। तुम इतिहासकी जो पुस्तकें पढ़ते हो, उनमें मुश्किलसे दो-तीन हजार वर्ष पहलेका इतिहास दिया हुआ होता है। उसके पहलेके करीब हजार-दो-हजार वर्षोंका हाल मोटे तौरपर अदाजसे बतलाया जाता है। परंतु वस्तुतः मानव-समाजका इतिहास कम-से-कम दस लाख वर्षोंका है। इसलिए हमें जो इतिहास सिखाया जाता है वह तो मानवसमाजके इतने लंबे इतिहासका इधरका आखिरी सिरा है। इतने बड़े अवकाशमें कई क्रांतियां हुई होंगी, कई उदर-पीड़ाएं हुई होंगी। परंतु पिछले सारे ज्ञात इतिहासमें इतनी भयानक उदरवेदना आजतक कभी नहीं हुई थी।

आजके इस युद्धमें समूची दुनिया शामिल हुई-सी है। समूची दुनिया! मैं लाक्षणिक या अलंकारिक अर्थमें नहीं कहता। अक्षरशः सारी दुनिया इस युद्धमें शरीक है। यह बात हमें खूब अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए। आजका युद्ध सारी दुनियाका 'संकुल युद्ध' है। 'टोटल वॉर'के लिए मैंने 'संकुल युद्ध' शब्दका प्रयोग किया है। मतलब, यह ऐसा युद्ध है जिसमें समूचे राष्ट्र दूसरे राष्ट्रोंके दुश्मन माने जाते हैं—यहांके पुरुषोंका वहांके पुरुषोंसे बैर है, यहांकी स्त्रियोंकी वहांकी स्त्रियोंसे अदावत है, यहांके जानवरोंकी वहांके जानवरोंसे दुश्मनी है, यहांके पेड़ोंका वहांके पेड़ोंसे शत्रुत्व है, यहांके औजारोंका वहांके औजारोंसे, यहांके जड़ पदार्थोंका वहांके जड़ पदार्थोंसे सीधा, तिरछा, आड़ा-

टेढ़ा, ऊपरसे, नीचेसे, चारों तरफसे, सारे शब्दयोगी और उभयान्वयी अव्ययोंसे व्यक्त होनेवाला, सब तरहका, बैर है। इसे और कोई विधि-निषेध लागू नहीं है—जिसकी बदौलत विजय होगी वह विधि और जिसके कारण पराजयकी संभावना हो वह निषेध। इसलिए मैं जो यह कह रहा हूं कि समूचा जगत इस युद्धमें शामिल है, उसका आप अक्षरार्थ लीजिए।

अभी उसी दिन पढ़ा कि इंग्लैंडने जो बात अपने इतिहासमें कभी नहीं की वह आज की है। वहां ऐसा कानून बना दिया गया है कि अठारह सालसे अधिक उम्रवाली जो स्त्रियां अविवाहित हों उन्हें, और विवाहित होते हुए भी जिनके संतान नहीं है उन्हें, युद्धमें शामिल होना चाहिए। यह भी हिसाब लगाया गया है कि इस तरहकी सोलह लाख औरतें मिल सकती हैं। लेकिन इतनेसे भी तसल्ली नहीं हुई। वे कहते है कि सोलह और अठारहके बीचकी उम्रकी स्त्रियोंको युद्धमें शामिल होने के लिए उत्तेजन दिया जायगा। हमारे यहां कहा करते है न कि **'प्राप्तेतु षोडशे वर्षे पुत्र मित्रवदाचरेत्।'** 'पुत्र सोलह वर्षका होते ही उससे मित्रके समान बर्ताव करना चाहिए।' उसी न्यायसे सोलह वर्षकी होते ही स्त्री युद्धके काबिल मानी गई।

उधर रूसने एक दूसरा ही ऐलान निकाला है। कहा जाता है कि इन पांच महीनोंकी लड़ाईके बाद, मैदानमें मारे गये, घायल हुए या कैद किये गये मिलाकर, कोई एक करोड सैनिक लड़ाईके लिए अयोग्य हो गये हैं। अठारह करोड़के राष्ट्रमें, किसी भी हिसाबसे कूतिये, तो लडाईके लायक साढ़े चार करोड़से ज्यादा आदमी होनेकी संभावना नहीं है। और उनमेंसे भी सभी लड़ाईपर नहीं, भेजे जा सकते। प्रत्यक्ष लड़ाईपर जानेवाले हरएक सिपाहीके पीछे तीन दूसरे आदमियोंकी जरूरत होती है। बिजली, पानी, आदिका इंतजाम करना, रास्ते बनवाना, औजार बनवाना आदि-आदि कई काम होते हैं। मतलब यह कि प्रत्यक्ष सिपाही और उसके मददगारोंका अनुपात एक और तीन माना जाय, तो सवा करोड़से ज्यादा सैनिक सेनामें दाखिल नहीं किये जा सकते। बहुत तो डेढ़ करोड़ समझ लीजिए। इन सवा या डेड करोड़मेंसे एक करोड़ सिपाही युद्धके लिए अक्षम हो गये। इसका साफ यह मतलब है कि अब उन्हें आदमियोंकी कमी महसूस

होने लगी। लेकिन इतनेसे वे हारनेवाले नही है। उन्होंने घोषित किया कि जिस पुरुष या स्त्रीके संतान न हो, उसपर कर लगाया जायगा। विवाहकी निर्धारित उम्रके बाद जिसकी शादी न हुई हो, उसपर भी कर लगाया जायगा। संतान होनेके बाद ही इससे छुटकारा मिल सकता है। याने, टैंकोंकी कमी महसूस होते ही जिस प्रकार कारखानों द्वारा उनकी उत्पत्ति बढ़ानेकी कोशिश होती है, उसी प्रकार मरनेके लिए आदमियोंकी कमी महसूस होते ही मनुष्य-निर्माणके कारखानोंको यह प्रोत्साहन दिया जा रहा है। इस याजनासे मरनेके लिए तुरंत आदमी मिल जायंगे, ऐसी बात नहीं है। कम-से-कम सत्रह-अठारह साल लगेगे। लेकिन कभी-न-कभी मनुष्योंकी कमी पूरी होनी चाहिए। इसलिए यह मनुष्य-निर्माणकी योजना है। कैसी भयानक परिस्थिति है यह!

इस भयानक परिस्थितिमेंसे क्या निष्पन्न होगा? इस उदर-वेदनामेंसे आगे जो नव-निर्माण होगा उसीको ये लोग 'नवीन रचना' (न्यू आर्डर) कहा करते हैं। आज वे जो विध्वंसक कार्य कर रहे हैं, उसे वे तात्त्विक दृष्टिसे निराईका काम कहते हैं। जिस तरह हम अपने खेतोंमें पहले निराई करके फिर नई फसलके लिए उसे तैयार करते है, उसी तरहका उनका यह काम है। वे कहते हैं—उन्हें यह आशा है—कि इस युद्धके बाद मानव-समाजकी रचना और तरहकी होगी। माना कि होगी। लेकिन विद्यार्थियोंको यह सोचना चाहिए कि जो कुछ अपने आप होगा उसे हम स्वीकारना चाहते है या हम अपनी योजनानुसार कोई निश्चित परिणाम चाहते हैं। इसका खूब विचार कर लीजिए। इस युद्धके बाद मानव-समाजकी आज जो स्थिति है वह नहीं रहेगी; इसमें कोई शक नही।

जिन्होंने युद्ध शुरू किया उनके लिए उसे शुरू कर देना आसान था। परंतु ज्यों-ज्यों युद्धकी प्रगति होती जाती है, त्यों-त्यों ये लोग युद्ध नहीं करते; बल्कि युद्ध इन्हें करता है। ये युद्धके नियामक नहीं रहते; उसके नियम्य बन जाते हैं। युद्ध उनका नियमन करता है। इन्हें युद्धके पीछे-पीछे जाना पड़ता है। कहा जाता है कि हिटलर सबसे बलवान् और योजना-कुशल है। लेकिन आज जो जागतिक युद्ध चल रहा है, वह उसकी रचनाके अनुसार नहीं कहा जा सकता। अर्थात् इस युद्धकी निष्पत्ति जो होगी सो होगी। लेकिन इनती भयंकर क्षति

और त्यागके बाद जो निष्पन्न होगा; वह प्राप्त करनेके लायक भी होगा ? कोई-न-कोई नतीजा तो होगा ही ।

प्रचंड भूकंपके बाद कुछ अघटित घटनाएं हो जाती हैं । इधरका समुद्र उधर हो जाता है; यहांका पर्वत उधर चला जाता है । ऐसी कुछ-न-कुछ उथल-पुथल होती है । भूकंपसे ऐसी प्राकृतिक क्रांतियां होती हैं । लेकिन वह क्रांति मनुष्यकृत या मानवनियोजित नहीं होती—चाहे उसका परिणाम मनुष्योंपर भले ही होता हो । वह स्वैर क्रांति है । आजकी लड़ाईमेंसे अगर हम अपना वांछित परिवर्तन उपस्थित कर सकें, तब तो उसे नियोजित कह सकते हे । अन्यथा अपने-आप परिवर्तन तो यों भी होने ही वाला है । तो क्या आजकी स्थिति बदलकर उसकी जगह कुछ-न-कुछ नया स्वरूप आ जावे, इतने हीके लिए यह सारी मार-काट शुरू की गई ? योजनाके अनुसार कोई निश्चित फल प्राप्त करनेके लिए ही तो इतनी भयानक लड़ाई शुरू की गई न ?

लेकिन आज यह साफ-साफ दिखाई दे रहा है कि ये बड़े-बडे तगड़े कहलाने-वाले लोग—चर्चिल, हिटलर, स्टैलिन, रूजवेल्ट, सभी—युद्ध-परतंत्र हो गये है । इनके वशमें युद्ध नहीं है । ये उसके अधीन हे । जिधर वह ले जायगा, उधर जानेके लिए ये बाध्य है । मै इतना भयानक युद्ध भी हजम करनेके लिए तैयार हूं । लेकिन अगर उसके बाद मे जैसा परिवर्तन चाहता हूं वैसा परिवर्तन हो सके तभी । वरना, 'जो होगा सो होगा', कहनेकी नोबत आयेगी। नवीन रचनाके लिए वर्त-मान युद्ध बेकार है । वह इष्ट या निश्चित दिशामें प्रगति नही कर रहा है । इसके बारेमें तो लार्ड हैलिफेक्सने जो जवाब दिया था वही यथार्थ है । उनसे पूछा गया, 'इस युद्धका उद्देश्य क्या है ?' बेचारेके मुंहसे सच बात निकल गई। उसने कहा, 'विजय ही इस लड़ाईका उद्देश्य है ।' पहले तो 'हम प्रजातंत्रके लिए लड़ते हैं' इत्यादि-इत्यादि स्वरूपकी भाषा थी। लेकिन अब भेद खुल गया । दूसरा क्या उद्देश्य बताते बेचारे ? विजय प्राप्त करनेके आनंदके लिए या लड़नेके मजेके लिए ही क्या कभी लड़ाईकी जाती है ? लड़ाईके लिए उद्देश्योंकी जरूरत होती है । लेकिन यह लड़ाई शुरू करनेके समय उद्देश्य भले ही रहे हों, परंतु अब युद्ध-चक्र शुरू हो जानेके उपरांत उसे गति देनेवाला हाथ ही उसमे उलझ

गया है। अब यंत्र उस हाथके काबूमें नहीं रहा। ऐसी लड़ाईमेसे इष्ट निष्पत्ति, निश्चित निष्पत्ति, नियोजित निष्पत्ति होना अशक्य है।

तब हम इसमें शामिल क्यों हों ? फलाना युद्धमें शामिल हो गया, ढिमाका शामिल हो गया, इसलिए हमारा भी शामिल होना कहांतक उपयुक्त है ? बुद्धिमान लोगोंको इसका विचार करना चाहिए। सिर्फ हिंदुस्तानके बुद्धिमानोंको नहीं, दुनियाभरके समझदार लोगोंको इसका विचार करना चाहिए। 'जिस युद्धसे हमारा अभीष्ट परिणाम नही निकल सकता, ऐसे अनाड़ी, स्वैर, जड़मूढ़, युद्धमें हम शरीक हो या न हों ?' इसका उत्तर एक ही हो सकता है—'शरीक होना मुनासिब नहीं है।'

एक बार शरीक न होनेका निश्चय हो जानेके बाद दूसरा सवाल यह होता है कि हमारा तटस्थ प्रेक्षक बनकर रहना कहांतक उचित होगा ? हमारे सब भाई ऐसे युद्धमें फंस गये हैं जो कि अब उनके काबूमें नहीं रहा है; उलटे, उनकी छातीपर सवार हो गया है। 'उनकी ऐसी बेबसीमें क्या हमारा युद्धमें शामिल न होना काफी होगा ? क्या हमारा तटस्थ साक्षी होकर रहना उचित होगा ?' --इस प्रश्नका कोई भी सयाना आदमी यही उत्तर देगा कि तटस्थ रहकर देखते रहना उचित नहीं है।

तो अब दो बातें पक्की हो गई। तुम कॉलेजके विद्यार्थी हो। आगे चलकर दुनिया तुम्हारे ही हाथोंमें आनेवाली है। तुम इस प्रश्नका निष्पक्षपात रीतिसे विचार करके निर्णय दो। देखो, यह बात तुम्हें कहांतक जंचती है। थोड़ी देरके लिए यह भूल जाइए कि यह युद्ध अत्यंत हिंसक है। लेकिन जो युद्ध मनुष्य के वश में नहीं रहा; वरन् मनुष्य ही जिसके अधीन हो गया है; उस युद्धमें सम्मिलित होना उचित नहीं है--यह पहला सिद्धांत है। दूसरा सिद्धांत यह है कि जो लोग इस युद्धमें शरीक हुए हैं, उनका विनाश स्पष्टरूपसे देखते हुए भी युद्धमें शामिल न होनेवाले शेष लोगोंको तटस्थ रहकर देखते रहना शोभा नहीं देता। ये दो सिद्धांत निश्चित हुए। अब आगे क्या हो ? अगर चुपचाप नहीं बैठना है तो क्या किया जाय ? इसका विचार करनेपर हम कांग्रेसी लोग जो कुछ कर रहे हैं, उसकी उपयुक्तता आपके ध्यानमें आयेगी। यह युद्ध आरंभ करके जगत्में विचारोंकी

जो भूमिका आज उपस्थित की गई है, उसकी विरोधी दूसरी विचारसरणि और भूमिकाका निर्माण करना हमारा कर्तव्य हो जाता है। यह तीसरा सिद्धांत है।

लोग पूछते हैं, "अजी इससे क्या होगा ? सभी लोग इस युद्धमें शामिल हो गये हैं। तुम्हारे मुट्ठीभर आदमियोंके प्रतिकार करते रहनेसे क्या होने-जानेवाला है ?" मैं कहता हूं, "तो फिर क्या मेरे पहले दो सिद्धांत फिजूल गये ?" इससे क्या होगा, सो बादमें देखा जायगा। पहले अपना कर्तव्य निश्चित कीजिए। युद्धकी भूमिकाकी विरोधी भूमिका बनाना हमारा कर्तव्य साबित होता है न ? इसका क्या कोई नतीजा नहीं होगा ? क्यों नहीं होगा ? विरुद्ध भूमिकाका क्रियात्मक विचार तो उपस्थित कीजिए। मन्तव्यों और विचारोंकी शक्तिपर भरोसा क्यों नहीं है ? मैं यह नहीं कहता कि विचारोंकी क्रियात्मक भूमिकाका निर्माण करनेसे वर्तमान युद्ध बंद हो जायगा। ऐसी कोई आशा मुझे नहीं है। परंतु बुद्धिमान मनुष्य अगर विरुद्ध विचारोंकी भूमिका अपने मनमें और जनतामें दृढ़ करेंगे, तो मानसिक शक्तिका एक फ्रंट (मोर्चा) बन जायगा। और जब युद्ध कुंठित होगा या बंद होगा, उसके उपरांत तुम्हारे विचारोंकी भूमिका जाग्रत होगी और उस समय मानव-समाजकी नवरचनाके कार्यके तुम्हारे हाथोंमें आनेकी संभावना होगी। उस दिनके लिए क्या आज हीसे तैयारी नहीं करनी होगी ? करनी ही चाहिए। लेकिन जब हम वह तैयारी करने लगते हैं, तो सरकार कहती है, "हम तुम्हें रोकेंगे।" लेकिन ऐसा मोर्चा बनाना हमें अपना कर्तव्य प्रतीत होता है। इस मोर्चेकी बदौलत युद्ध-समाप्तिके अनंतर हम संसारको निश्चित मार्गपर मोड़ सकेंगे। ये मतवाले आज युद्धमें चूर हैं। युद्ध अब उनके हाथोंमें नहीं रहा। निश्चित फल पानेकी कोई आशा नहीं रही। इसलिए जो समझदार लोग युद्धसे बाहर रहना चाहते हैं, उन्हें युद्ध-प्रतिकारकी भूमिका रचनी चाहिए। कारण, युद्धके बाद इन लोगोंके शरीरोंकी तरह बुद्धि भी थक जायगी; बल्कि शरीरसे बुद्धि ज्यादा थकी हुई होगी। आप ऐसी भूमिका रचिये कि उन्हें सहज ही आपके रास्तेपर आना पड़े। इसलिए इसमें संख्याका सवाल नहीं है। जिनका दिमाग साबित है, वे मार्ग-दर्शन करनेके अधिकारी हैं। नियोजित समाज-रचना करने-का कार्य उन्हींके जिम्मे आनेवाला है। इसलिए युद्ध-

विरोधी विचारकी सक्रिय भूमिकाका निर्माण करना उन्हींका कर्तव्य है।

लेकिन यह कर्तव्य हमें आरामसे कौन करने देगा ? विद्यमान राज्यकर्ता और व्यवस्थापक हमारा दंडन और दमन अवश्य करेंगे। अगर वे ऐसा करेंगे तो वह भी एक अन्याय ही होगा। और अन्यायका प्रतिकार करना तो हमारा परम कर्तव्य है।

सारांश, युद्ध किन कारणोंसे शुरू हुआ इसका विचार करके उसके विरुद्ध कारणोंका निर्माण करना हमारा कर्तव्य है। हमारा पहला सिद्धांत यह है कि अन्यायका प्रतिकार करना ही चाहिए। दूसरा यह कि प्रतिकारकी रीति भिन्न होगी, उनका हथियार अनोखा होगा। संसारको गांधीजीकी यह देन है। अन्यायके प्रतिकारका उनका तरीका अगर ससार स्वीकार कर लेता, तो यूरोपमें आज जो दृश्य दिखाई देता है, वह न दिखाई देता। उस दिन रिबनट्रॉपने कहा न, कि अब यूरोपकी शांतता भग होने का डर ही नहीं है। क्यों ? इसलिए कि यूरोपकी सारी जनता निःशस्त्र बना दी गई है और उसके बंदोबस्तके लिए जर्मनीके टैंक जहां-तहां गश्त दे रहे है। ये उन्मत्त लोग अंग्रेजोंसे ही यह गुरुमंत्र सीखे है। अंग्रेजोंने हिंदुस्तानके हथियार छीन लिये और वे सोचने लगे कि 'अब हम कुशल हैं। इनके पास हथियार नही हैं और हम शस्त्रास्त्रोसे लैस हैं। अब मनमानी हुकूमत करनेमें हर्ज नही है।' रिबनट्रॉप भी यही कहता है। जो उसका सूत्र है वही और सबका है। दीगर फुटकर भेद भले ही हों; लेकिन सूत्र एक ही है। शांतिके लिए लोगोंको निःशस्त्र बना देना और व्यवस्थापकोंका नखशिख सुसज्जित हो जाना—यही इंग्लैड, रूस, जापान और अमेरिका इन सबकी युक्ति है।

कार्लमार्क्सने एक बड़ा भारी सिद्धांत पेश किया है। उसे जाननेके बाद गांधीजीके दिये हुए विचारकी महिमा आपके ध्यानमें आयगी। कार्लमार्क्सका नाम तो आप जानते ही हैं। उसकी किताबें भी आपने पढ़ी होंगी।

उसका यह सिद्धांत है कि जब कोई प्रमेय संसारमें प्रसृत होता है, तो उससे कुछ फायदे होते हैं और कुछ नुकसान भी होता है। एकतंत्र राज्यपद्धति, पूंजीवाद आदि किसी भी पद्धतिको ले लोजिए। जबतक लाभकी मात्रा अधिक और हानिकी मात्रा कम होती है, तभीतक वह प्रमेय टिकता है। लेकिन जब फायदेकी बनिस्बत नुकसान ही ज्यादा होने लगता है, तो एक तीसरा तद्विरोधी प्रमेय

संसारमें प्रवृत्त होता है और उस पुराने प्रमेयपर आक्रमण करता है। इस आक्रमणमेंसे एक तीसरा ही तत्त्व उदय होता है, जिसमे पहलेके दोनो तत्त्वोंके गुण ही शेष रह जाते हैं। उदाहरणके लिए वर्णव्यस्थाका सिद्धांत ले लीजिए। समाजमें मनुष्योंके भिन्न-भिन्न समूहोंकी कार्य-क्षमता भिन्न-भिन्न प्रकारकी होती है। इन समूहोंको उनकी विशष भूमिकाके अनुरूप काम सौंपा जाता है। इस व्यवस्थाको वर्ण-व्यवस्था कहते हैं। इस व्यवस्थामें गुण और दोष दोनों है। भिन्न-भिन्न शक्तियोंका भिन्न-भिन्न सगठन करना इसका गुण है और उच्च-नीच-भाव एवं परस्पर-विरोध इसके दोष हैं। परंतु जबतक गुणोंका अश अधिक रहेगा, तबतक यह व्यवस्था बनी रहेगी। लकिन जब उच्च-नीच-भाव और पारस्परिक हित-विरोध जैसे दोष प्रकट होकर जोर पकड़ने लगते है, तो उनके खिलाफ़ 'अभेद', 'अभेद', 'अभेद', 'साम्य', 'साम्य', 'साम्य', का एक ही तत्त्व वेगके साथ अग्रसर होता है। इन दिनोंका संघर्ष होगा और उस संघर्षमेसे एक ऐसा तीसरा तत्त्व उदय होगा जिसमें वर्ण-व्यवस्था और अभेदवादके भी गुण होगे, ठीक उसी तरह जिस तरह कि हम कलमे बाधते है। नीबूपर मोसंबीकी कलम बाधते है--जिससे खट-मिट्ठा सतरा पैदा होता है; जिसमे नीबू और मोसबी दोनोके गुण होते हैं। लेकिन यह सामाजिक क्रिया कोई योजना-पूर्वक नही करता। वह अपने-आप होती रहती है। एक तत्त्वके अदर छिपे हुए दोष प्रकट होने लगते है और उसीकी कोखसे तद्विरोधी दूसरा तत्त्व पैदा होता है। जैसा कि बुद्धने कहा है--'**तदुद्भाय तमेव खादति**'। 'उसमेसे पैदा होकर उसीको खाता है'। जिस प्रकार यह तीसरा तत्त्व अपने-आप तैयार होता है, उसी प्रकार प्रतिकारका यह नया तरीका मार्क्सके सिद्धातानुसार इतिहासमेसे ही पैदा हुआ है। गांधी केवल निमित्तमात्र हुआ है।

आजतककी यह प्रणाली थी कि सशस्त्रोंको परास्त करके हम खुद विशेष संगठित और विशष सुसज्जित रहें। उसमेंसे अब दूसरी यह प्रणाली उत्पन्न हुई कि सामनेवाले को पूरी तरह निःशस्त्र बनाकर हम खुद सशस्त्र रहे। अब उसीमेसे इन शस्त्रहीन लोगोंको प्रतिकारकी यह नई युक्ति सूझी है। इस सूझका निमित्त गांधी है। वह न होता तो दूसरा कोई हुआ होता। पैंतीस-चालीस करोड़ लोग

अगर हमेशाके लिए गुलाम ही रहे, तो वे मनुष्य ही नहीं होंगे। और अगर वे मनुष्य हों, तो उनके लिए स्वतंत्र होनेका रास्ता होना ही चाहिए। वह रास्ता उन्हें सूझता है, इसीमें उनकी मानवता है। इस सिद्धांतको 'वितर्कवाद' कहते हैं। सामान्य तर्कसे यह विशेष और भिन्न है, इसलिए उसे 'वितर्क' यह पारिभाषिक संज्ञा दी गई है। सबसे पहले पूर्ववर्ती तर्कका विरोधी तर्क उत्पन्न होता है; फिर उन दोनोंका समन्वय होकर उन दोनोंमेंसे तीसरा तर्क उत्पन्न होता है—यह वितर्ककी प्रक्रिया है। यह 'वैतर्किक सरणि' मैंने संक्षेपमें आपके सामने उपस्थित की है।

समूचे राष्ट्रोंके निःशस्त्रीकरणकी प्रक्रिया मध्ययुगके लोगोंकी खोपड़ीकी उपज है। जिन लोगोंने समूचे राष्ट्रको निःशस्त्र बनाया और ऊपरसे उसकी रक्षाकी जिम्मेदारीको स्वीकार किया, उन्होंने एक बडा ही खतरनाक प्रयोग किया है। अंग्रेजोंने हिंदुस्तानको निःशस्त्र कर दिया। लेकिन आज इंग्लेंडके लोग जरूर महसूस कर रहे होंगे कि हमने यह कोई अक्लका काम नहीं किया। इसीलिए अब कहने लगे हैं कि "आओ, लड़ाईमें शामिल हो, हम तुम्हें हथियार चलाना सिखाते हैं।"

लेकिन उनका यह उत्पाती प्रयोग एक दृष्टिसे बड़ा लाभकारी साबित हुआ। क्योंकि निःशस्त्र होनेके कारण ही हम प्रतिकारके इस अनोखे शस्त्रका आविष्कार कर सके। गांधी तो केवल उसे व्यक्त करनेवाला मुख है। गांधीके रूपमें हिंदुस्तानकी सारी प्रजा बोलती है। बीस वर्षतक उन्होंने इस नये शस्त्रकी महिमा लोगोंपर प्रकट की। तलवारकी शक्ति भी कोई स्वतंत्र शक्ति नहीं है। तलवार भी आखिर लोहा ही तो है। वह तो खदानमें पडा ही है। उसे कारीगरीसे उपयोगी आकार दे दिया गया, तो भी आखिर लोहा ही है। घड़ा और मिट्टी क्या अलग-अलग है? शस्त्र जड़ ही है। शस्त्रके पीछे चेतन शक्ति है। इसलिए उसमें बल आ जाता है। अगर चेतन शक्ति न हो, तो वह तलवार या बंदूक अपने-आप नहीं चलती। तलवार या बंदूककी शक्ति चलानेवाले पर, धारण करनेवालेपर, निर्भर करती है। पहले यह बात समझमें नहीं आती थी। परंतु परिस्थितिकी प्रेरणासे गांधीके ध्यानमें यह बात आ गई कि शस्त्रकी शक्तिका

आधार चैतन्य है ।

नही तो हथियार होते हुए भी कैसी फजीहत होती है, इसका एक किस्सा हमारे एक मित्र सुनाया करते है । एक सज्जनके घरमें चोर घुस गये । चोरोंको देखते ही उसके होश-हवास उड़ गये और वह चिल्लाने लगा, "अरे मेरी बंबूक! बंनूक ! बंबूक !!" उससे 'बंदूक, शब्द भी नहीं कहते बना । बंदूक उसके होती भी किस कामकी । हां, अगर चोर अपनी बंदूक लाना भूल गये हों, तो उन्हें अलबत्ता उसका उपयोग हो सकता था ।

भावार्थ यह कि शस्त्र स्वतंत्र रीतिसे काम नहीं कर सकते । अगर हम निःशस्त्र न होते तो यह पृथक्करण हमारी समझमें न आता । परिस्थितिकी निरपेक्ष कल्पना सहसा सूझती भी नही । ऋषियोंको भी विचार और स्फूर्ति तथा प्रेरणा परिस्थितिमेसे ही मिलती है । गांधीको यह जो स्फूर्ति हुई उसमे उनकी बुद्धिकी कुछ विशेषता जरूर है, परंतु उसका वास्तविक कारण भी हिंदुस्तानकी परि-स्थिति ही है ।

इस शस्त्रका- भला बुरा प्रयोग हमने बीस साल तक किया और यह अनुभव हुआ कि निःशस्त्र होते हुए भी इस युक्तिकी बदौलत हम लड़ सकते है । लेकिन लोग पूछते है, "इसका क्या परिणाम निकला ?" मै कहता हूं, "अरे परिणाम-वादियो, जरा सब्र तो करो । तुमने दस हजार वर्षतक हिंसाके प्रयोग देखे है । क्या अब भी हिंसाके प्रयोग होना बाकी है? इतने वर्षोंके बाद भी फिर नित्य शस्त्र चलाने ही पड़ते हैं न ?" छुटपनमें हम रटा करते थे । 'चटनीवाला रातदिन पीसता रहता है ।' उसी तरह ये तलवरिये रातदिन तलवार घिस-घिस घिसते आये हैं । इन लोगोंको इतना समय दिया, इतना मौका दिया । हमें तो बीस ही साल हुए । हमें भी तो प्रयोग करनेके लिए मौका दोगे ? यह भी तो देखो कि हमने बीस सालमें कितनी योग्यता प्राप्त की ।

नागपुर जेलमें नित्य इसकी चर्चा हुआ करती थी। वहां जमा हुए सब 'सत्या-ग्रही' (!) ही थे 'मिथ्यावादी' (!) कोई नही थे लेकिन हम सोचते रहते थे कि ऐसे दिखावटी साधनोंसे जो प्रयोग किया या प्रयोगका स्वांग रचा, उसका

भी अगर इतना असर हो सकता है, तो असली चीज प्रवृत्त होनेपर कितना प्रचंड कार्य होगा ?

दस हजार सालतक हिंसाके प्रयोग करते रहनेके बाद भी उसकी यह दशा है और हमारी टूटी-फूटी अहिंसाका प्रयोग केवल बीस ही सालका है, तो भी हम इतना प्रतिकार कर सके। तो बतलाइये क्या हम आगेके लिए आशा नहीं कर सकते ? कम-से-कम इस शंकाकी तो गुंजाइश है कि शायद हिंसा असफल साबित हो और अहिंसाके मार्गसे ही बहुत-सा कार्य हो जाय। यह शंका भी अगर तुम्हारे दिलमें पैदा हो गई, तो मैं समझूंगा कि मेरे व्याख्यानसे बहुत बड़ा काम हो गया।

अगर यह विचार यूरोपके गले उतर जाता, तो आजकी परिस्थितिमें हिटलर-को चैन नहीं पड़ता। वह देशके बाद देश फतह करता चला गया। उधर रूस जैसे प्रतापी राष्ट्रसे उलझ गया। ऐसी हालतमें भी इंग्लैण्डको जर्मनीपर धावा बोल देनेकी हिम्मत नहीं हुई। बहुतोंको इस बातका आश्चर्य हुआ। वे सोचने लगे कि जर्मनीपर हमला करनेके लिए इससे अच्छा मौका और कौन-सा हो सकता था ? लेकिन इंग्लैंड एक कोनेमें चोरी-चुपकेसे लीबियामें लड़ने लगा। सारांश, इंग्लैंड-सरीखे बलवान्, सामर्थ्यशाली और संपन्न राष्ट्रको भी प्रतिकार करना इतना मुश्किल मालूम होता है, तो दूसरे राष्ट्र क्या करें ? कर ही क्या सकते हैं ? चुपचाप बैठें और टैंकके आते ही उसके सामने सिर झुका दें। और कुछ सूझता ही नहीं।

लेकिन गांधीजीने हमें यह नया हथियार दिया है। अगर प्रतिकारका व्रत लेना है तो इस हथियारके बलपर ही लिया जा सकता है। तलवारके बलपर अगर प्रतिकारकी शपथ ली जाय, तो जबतक तलवार हाथमें है, तभीतक आप उस शपथको निबाह सकेंगे। तलवार हाथसे गिरते ही व्रत खुल जायगा, उसका पारण हो जायगा, एकादशी समाप्त होकर द्वादशी शुरू हो जायगी। अन्यायके प्रतिकारकी प्रतिज्ञाका पालन करनेके लिए अहिंसाका हा आश्रय जरूरी है। जो अहिंसक प्रतिकारका व्रत लेगा वह पुरुष या वह स्त्री जहां खड़ी हो वहीं से प्रतिकार शुरू कर सकती है।

इसलिए आप इस सारी परिस्थितिका शांतिपूर्वक विचार कीजिए। कहा जाता है कि महाराष्ट्रके लोग बुद्धिवादी और तार्किक हैं। महाराष्ट्रपर लगाया जानेवाला यह बुद्धिवादका आरोप अगर सही होता, तो मुझे आनंद हुआ होता। लेकिन मुझे दुःख है कि यह आरोप वास्तविक नहीं है। महाराष्ट्र एक तरहकी तामसी श्रद्धासे प्रेरित हुआ है। हम समझते हैं कि हमारा वह पुराना मराठी बाना और नाना फड़नवीसकी परंपरा हमारे खूनमें है। भाई मेरे, अब वह नाना फड़नवीसकी पुरानी विद्या और परंपरा इस बदली हुई परिस्थिति और समयमें बिलकुल निरुपयोगी और बेकार साबित होगी। ये लोग कहते हैं कि नाना बड़ा बुद्धिमान था और इसलिए उसने बड़ी सिफतसे राज्यकी रक्षा की। लेकिन नानाकी बुद्धिमानी इस बातमें थी कि वह भांप गया था कि अंग्रेजोंका आसन हिंदुस्तानमें जमनेवाला है। ये लोग कहते हैं कि अहिंसक प्रक्रिया हमारे खूनमें नहीं है, हमारी विचारधारामें नहीं है। लेकिन ज्ञानदेव, तुकाराम आदि संतोंने जिस प्रक्रियाको गौरवान्वित किया, वह हमारे रक्तमें नहीं है, यह माननेके लिए मैं तैयार नहीं हूं। लेकिन अगर ऐसा ही हो समझ लीजिए कि आप हमेशाके लिए पिछड जायंगे। अब फिरसे आप कभी समाजका नेतृत्व नहीं कर सकेंगे। उस पेशवाई और नाना फड़नवीसकी परंपराके भरोसे बैठोगे तो बैठे ही रहोगे; उठ नहीं सकोगे।

जिससे शस्त्रके आधारपर दुर्बल भी बलवान बन सकता है, उसे चलानेकी विद्या अगर तुम खुद सीखोगे दूसरोंको सिखाओगे तो युद्धके बाद शरीर, बुद्धि और प्राणके थके हुए लोगोंका नेतृत्व सहज ही तुम्हें प्राप्त होगा।[1]

(सर्वोदय : जनवरी, १९४२)

---

१ वासुदेव आर्ट्स कालेज (वर्धा) के स्नेह सम्मेलनके अवसरपर (१४ दिसंबर, १९४१ को) दिया हुआ भाषण।

: १२ :

तीन मुख्य वादोंकी समीक्षा

आज मै जो कहना चाहता हूं उसे कहनेके पहले थोड़ी-सी प्रस्तावना करनी होगी। एक मित्रकी चिट्ठी आई है। वह लिखते है, "कृपया हिंदीमे बोलें"। इसमेंसे 'कृपया' शब्दको मै स्वीकार करता हूं। याने 'कृपया' मराठीमे बोलनेवाला हूं। नागपुर-जेलमें हमारी चर्चा और व्याख्यान सदैव हिंदीमे ही होते थे। वहां जो सत्याग्रही थे उनमेंसे अधिकांश हिंदी जानते थे। मराठी जाननेवाले थोड़े ही थे। इसलिए उनसे हिंदीमें ही बातें और चर्चा हुआ करती थी। इस प्रकार हिंदीके द्वारा हमें एक-दूसरोंके विचार ज्ञात हुए और सहवासमें आनंद मालूम हुआ। फलत: अब मुझे व्याख्यान देने लायक हिंदीका अभ्यास हो गया है।

लेकिन यहाँ मराठीमें बोलनेमें मेरी तत्व-दृष्टि है। हमे अपनी राष्ट्रभाषा हिंदी अथवा हिंदुस्तानी अथवा उर्दू अवश्य सीखनी चाहिए। सभी प्रांतोंके लोगोंको सीखनी ही चाहिए। लकिन साथ-साथ यह भी जरूरी है कि जो लोग दूसरे प्रातोंमें आकर रहते हैं, वे भी उन प्रांतोंकी भाषाए समझने और बोलने लायक सीखें। अन्यथा समूचे राष्ट्रकी सधि नहीं जुड़ेगी। मेल दोनों तरफसे होता है। विभिन्न प्रांतीय भाषाभाषियोंको राष्ट्रभाषा सीखनी चाहिए और हरएक प्रांतमे रहनेवाले अन्य प्रांतीयोंको स्वदेशी धर्मके अनुसार दयालुतासे उस प्रांतकी भाषा अवश्य सीखनी चाहिए। यह तत्त्व-दृष्टि तुम्हें उपलब्ध करानेकी कृपा करके अर्थात् 'कृपया' मै मराठीमे बोलनेवाला हू।

विद्यार्थियोंके लिए हाल हीमें मेरा एक व्याख्यान हो चुका है। मैं मान लेता हूं कि आप लोगोंमेंसे अधिकतर लोगोंने वह सुना होगा। उस व्याख्यानमे मैंने एक विचार पेश किया था। वही विचार मै सब जगह उसी भाषामें पेश किया करता हूं। कारण मेरे दिलमें वह उसी भाषामें जम गया है। वह विचार यह कि सपूर्ण स्वतंत्रता पर अगर किसीका अबाधित और निरंकुश अधिकार हो सकता है तो विद्यार्थियोंका। दूसरोंके लिए बंधन होते है और वे उचित भी होते हैं। परंतु विद्यार्थीको कोई बंधन नही होना चाहिए। इस अधिकार का अमल अगर अबतक शुरू न किया हो, तो आज शुरू करो। विद्यार्थी एक

हैसियत है। उस हैसियतको लक्ष्य करके मै बोल रहा हूं; विद्यार्थी व्यक्तिकी दृष्टिसे नहीं। एक व्यक्तिके नाते उसे अनेक बधन होना सभव है। लेकिन विचार या सत्यका शोध करते समय संपूर्ण और केवल विद्यार्थीकी ही हैसियत होनी चाहिए। अमुक विद्या इसलिए ग्राह्य नही है कि उसे अमुक महात्मा, गुरु या संत सिखाता है। 'यह संतवाणी है, यह हमारे पथकी वाणी है', इसलिए प्रमाण है, इस तरहका बोझ ज्ञानार्जनके विषयमें या विचार बनानेके विषयमें उसके ऊपर नहीं होना चाहिए। विद्यार्थी-व्यक्तिपर पुत्र, मित्र, शिष्य, या दूसरी हैसियतसे अनेक बंधन लागू हो सकते हैं। पर विद्यार्थीके नाते संपूर्ण स्वतंत्रता ही तुम्हारा अधिकार है। यह बहुत महत्त्वपूर्ण, बिलकुल मूलभूत, अधिकार है। इस मूलभूत अधिकारकी अगर तुम अवहेलना करोगे या अवहेलना होने दोगे, तो सच्ची विद्या प्राप्त होनेकी आशा नहीं रहेगी।

आजकल जर्मनी, रूस, इत्यादि सभ्य राष्ट्रोंमे इतिहास, सस्कृति, व्यापार, भूगोल, इत्यादि सिखानेके बहाने विद्यार्थियोका यह अमूल्य अधिकार छीन लिया गया है। गणेशजीकी मूर्ति बनानेवाला आजका शौकीन मूर्तिकार यह भूल जाता है कि 'गणपति' नामक एक तत्त्व है और मिट्टीको मनमाना आकार दे देता है। मूर्तिकार समझते है कि गणपतिकी प्रतिमा बनाना हमारे हाथकी बात है। इसलिए उसे अपनी मर्जीका आकार दे देते हैं। कोई उसके हाथमें त्रिशूल और बल्लम दे देते हैं, कोई चरखा देते है और कोई तो उसे सिगरेटका चस्का लगा देते हैं। इस तरह बेचारे गणेशजीकी मिट्टी पलीद की जाती है। वही हाल विद्यार्थियोंका होनेवाला है। सयाने विद्यार्थी इसके लिए तैयार नहीं थे; आज भी नहीं हैं। तुम्हें ऐसी दुर्दशा सहनेके लिए हरगिज तैयार नहीं होना चाहिए। जर्मनीमें क्या होता है? 'विद्यार्थीको कौनसी विद्या सिखाई जाय, कौन-से ढांचेमे ढाला जाय', यह सरकार तय करती है। विचारों और गुणोंका नियंत्रण तथा नियमन सरकार करती है। सरकारको जो विकार और विचार इष्ट जान पड़ते है, उन्हें भिन्न-भिन्न विद्यार्थियोके मगजमें ठूसनेका अमोघ साधन माने शिक्षक। सरकारके इष्ट विचारोंकी दृष्टिसे शिक्षणकी योजनाएं बनती हैं। ऐसी ज्यादतियां अगर तुम सह लोगे तो तुम्हारा, हमारा

और संसारका बुरा हाल होगा। पूंजीवादी राष्ट्र इस प्रकारकी योजनाएं बनाया करते हैं। उनका पूरी तरह विरोध करना हमारा—विद्यार्थियोंका—फर्ज है।

यह पहली बात है। यह उस ऋषिके ध्यानमें आया। इसलिए उस वैदिक ऋषिने कहा। क्या कहा उसने? "मेरे प्यारे शिष्यो, तुम बारह वर्षतक मेरे पास रहे, विद्या सीखे; लेकिन तुम मुझे अपना आदर्श न मानना। सत्यको ही प्रमाण मानो। मेरी कृतियों या शब्दोंको प्रमाण मत मानो। मेरे शब्द और आचरण सत्यकी कसौटीपर परखो। जो खरे उतरें उनको स्वीकार करो। जो घटिया ठहरें उन्हें छोड़ दो। सत्यकी कसौटी हरएककी बुद्धिके लिए सहजगम्य है। उसे काममें लाओ।—**'यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि'**। उस ऋषिने कहा, 'हमारे केवल अच्छे चरित्र अपनाओ, बुरोंको छोड़ो।' क्योंकि वह यथार्थ ज्ञानदाता गुरु था। उसका बतलाया तत्त्व नवीन नहीं है। लेकिन उसका अमल नहीं होता। इसलिए अतिशय दयालु गुरुके नाते ऋषिने विद्यार्थियोंको यह संदेश दिया। उसे खूब याद रखिए। अपना विचार-स्वातंत्र्यका यह मूलभूत अधिकार अक्षुण्ण रखिए। उसे गवाइए नहीं।

मैंने कहा कि स्वतंत्र-बुद्धि विद्यार्थीका पहला और मुख्य लक्षण है। स्वतंत्र बुद्धि माने वह बुद्धि जिसपर कोई दबाव नहीं है। वही सत्याग्रही बुद्धि है। इस बुद्धिके द्वारा तुम संसारकी तरफ देखो। तुम्हें अनंत चमत्कार दिखाई देंगे। बुद्धिसे उन्हें समझो। इस युगमें खोखला भेजा रखनेकी गुंजाइश नहीं है। अगर तुम अपने सुनिश्चित और पक्के विचार नहीं रक्खोगे तो उसमें किसी दूसरेके विचार घुस जायंगे। आजकी दुनिया कहती है, 'दिमाग खाली नहीं रहना चाहिए। उसमें कुछ-न-कुछ भरना ही चाहिए।' सद्विचार भरो। और अगर सद्विचार नहीं भरना है तो आलू भरो, पत्थर भरो, जो चाहे सो भरो। इस-युगकी यह प्रतिज्ञा है कि तुम्हारा सिर खाली नहीं रह सकता। खुद विचार न करोगे तो वह रेडियो रेंक-रेंककर तुम्हारी खोपड़ीमें विचार ठूंसता है। समाचारपत्र विचार करनेको बाध्य करते हैं। बिना विचारका दिमाग रखना संभव नहीं है। इसलिए सत्याग्रही बुद्धि रक्खो। सद्विचार करो। सद्विचारोंको दृढ़ करना और संचित करना, यही एक रास्ता है। अगर तुम कहोगे कि मैं

विचार नहीं बनाऊंगा, तो लोग तुम्हें बनायेंगे। बनो मत। दुनियाके हाथोंमें महज मिट्टी बनकर न रहो।

आजकी दुनियामें उदासीन रहना असंभव है। केवल एकांतमें अध्ययन करनेकी गुंजाइश नहीं है। समाजशास्त्रके विचार और अध्ययनके बिना गति नही है। उसके बिना किसी भी विषयका अध्ययन नहीं हो सकता। इतिहास, अर्थशास्त्र और राज्यशास्त्रका अध्ययन तो हो ही नहीं सकता। लेकिन गणित जैसे स्वतंत्र और तटस्थ विषयका अध्ययन भी समाजशास्त्रके बिना नहीं होता। साधारण नीति, गणित, साधारण विज्ञान, भौतिकशास्त्र—किसी भी विषयका विचार समाजशास्त्र-निरपेक्ष करना संभव नहीं है। मानो समाज-शास्त्रमेंसे ही ये सारे शास्त्र निकले हों। सलिए नित्य जागरूक रहकर विधायक विचार करना नितांत आवश्यक है।

आज संसारमें तीन बहुत बड़े विचार-प्रवाह पाये जाते हैं। पहला 'फांसी-वाद' और 'नासीवाद' है। दोनों वस्तुतः एक ही हैं। एक जर्मनीमे पैदा हुआ और दूसरा इटलीमें। वह किसी-न-किसी रूपमें सारे ससारमें है। हमारे हिंदुस्तानमें भी है। दूसरा साम्यवाद है। समाजवाद इत्यादि उसके पेटमें हैं। यह वाद रूसमें प्रवृत्त हुआ और दुनियाभरमें फैला। तीसरा महात्मा गांधीका विचार है। ये तीन ही यथार्थ विचार-प्रवाह है। इंग्लंड, अमेरिका आदिके विचारोंकी विचारकी दृष्टिसे कोई गिनती नही है। गिनती करनी हो तो ये 'फांसी-नासी'के ही भाईबंद हे। विजय किसीकी भी हो, विचारकी दृष्टिसे इनमें कोई दम नहीं। इसलिए इनकी गिनती करनेकी जरूरत नहीं है। इनके विचार नष्ट होनेवाले हैं। इनकी विजय भी हो जाय तो वह उसी तरहका होगी, जैसा कि बुझनेके पहले एक क्षणके लिए चिरागका बड़ा होना। अतमे इनका विचार नष्ट होनेवाला है।

इन तीनों वादोंकी प्रगति हमारे सामने है। उनका तुम तटस्थभावसे खूब अध्ययन करो। इनमेंसे गांधीवादका तो उदय करीब-करीब हिंदुस्तानमें ही हुआ है। 'करीब-करीब' इसलिए कहा कि दूसरे देशोंके विचारकोंने भी इस

तरहके विचार व्यक्त किये हैं। प्राचीनकालमें कुछ व्यक्तियोंने प्रयोग भी किये हैं। लेकिन इस सिद्धांतको साकार बनाकर उसे सगुण रूप देकर उसके प्रत्यक्ष प्रयोग गांधीने ही और राष्ट्रीय पैमानेपर हिंदुस्तानमें ही किये हैं। इसलिए 'करीब-करीब' कहनेमें हर्ज नहीं है। गांधीके प्रयोगके लिए हिंदुस्तानमें अनुकूल परिस्थिति और वातावरण था।

दूसरे दो वाद यूरोपमें पैदा हुए—साम्यवाद और नाजीवाद। ये क्यों और कैसे पैदा हुए, इसका विचार हमें करना चाहिए।

मैंने अपने जीवनके विषयमें एक न्याय (नियम) बनाया है। वह आपके सामने रखता हूं। वह न्याय है—'इंद्राय-तक्षकाय स्वाहा,। सांपोंसे तकरार हो जानेके कारण एक ब्राह्मणने सांपोंका यज्ञ किया। उसमे बहुत-से सांपोंकी आहुतियां दीं। लेकिन तक्षक इंद्रके आसनके नीचे जा छिपा। इधर ब्राह्मणने कहा, 'तक्षकाय स्वाहा'; लेकिन तक्षकका पता नहीं। तब तो ब्राह्मणने सूक्ष्मदृष्टिसे खगोलका निरीक्षण किया। उसे पता चला कि तक्षकके इंद्राश्रित होनेके कारण आहुति व्यर्थ गई। इसलिए उसने कहा, 'इंद्राय-तक्षकाय स्वाहा।' ब्राह्मणने उद्दंडतासे दोनोंकी आहुतिका संकल्प पढ़ा। पृथक्करणका कष्ट नहीं किया। लेकिन इंद्र तो अमर ठहरा। इसलिए उसकी आहुति होना असंभव था। ब्राह्मणने पृथक्करणकी झंझटसे बचना चाहा, इसलिए इंद्रके साथ तक्षक भी अमर हो गया।

ऐसा कोई भी वाद नहीं जिसमें एक-न-एक गुण न हो। अगर हम किसी वादको सर्वथा दुष्ट या दोषयुक्त करार देकर उसके गुणोंका भी त्याग करें तो वह वाद अमर हो जाता है। यदि किसी वादके गुणदोषोंका पृथक्करण न किया जाय तो दोषोंसे भरा हुआ वाद भी पनपता है। इसलिए हरएक वादमें जो गुण हों, उन्हें जान लेना जरूरी है। जिसमें गुण ही न हों, ऐसा वाद ही नहीं है। इसीलिए नाजीवादको सर्वथा दुष्ट करार देनेसे वह जोर पकड़ता है और पनपता है। हम उसके गुणोंको नहीं देख सकते और न साम्यवादके ही सत्यका अन्वेषण होता है। किसी भी वादके सिर्फ दोष ही देखनेसे वह खंडित नहीं होता।

अगर हम हरएक वादका गुण अपना लें तो फिर उस वादमें स्थायी रहने लायक कुछ नहीं बचता। इस दृष्टिसे हम नाजीवादके गुणकी खोज करें। नाजीवाद एक प्रकारके पूर्व-अभिमानपर स्थित है। प्राचीन परंपरा और पूर्व-इतिहासके अभिमानपर अधिष्टित है। "हम जर्मन लोग श्रेष्ठ है। हमारे इतिहासमें भव्यता है। इसलिए परमात्मा या कालात्माने एक बड़े महत्त्वका कार्य हमें सौंपा है। हम अपनी पुरानी संस्कृतिका रक्षण और पोषण करके ही उस कर्तव्यको पूरा कर सकेंगे। इसलिए इस जर्मन वंशको अक्षुण्ण रखना चाहिए। हमारे अंदर श्रेष्ठ गुण हैं। इसीलिए तो यह महत्कार्य हमारे सिपुर्द किया गया है। व्यक्तिकी तरह समाज और राष्ट्रमें भी विशेष गुण पाये जाते है। ये हमारे विशिष्ट गुण हमारा अपनापन, हमारा निजत्व है। हमारी संस्कृति शुद्ध है। हम शुद्धरक्तके, शुद्ध बीजके, शुद्ध विचारके जर्मन लोग ही यह कार्य पूरा करनेके योग्य है। शुद्ध याने पूर्वपरंपरासे प्राप्त। मेंढकको मेंढकोंकी परंपरासे मिले हुए गुण शुद्ध है। सांपको सांपोंकी परंपरासे मिले हुए गुण शुद्ध हैं। शेरको शेरोंकी परंपरासे मिले हुए गुण शुद्ध है। उसी प्रकार हमें हमारी परंपरासे मिले हुए विशिष्ट गुण ही हमारी संस्कृति है। इसलिए हमे जर्मनवंशका अभिमान रखकर अपनी परंपराकी रक्षा करनी चाहिये।"

नाजीवादमें दूसरे दोष होंगे; लेकिन यह एक बड़ा आकर्षक गुण है। हां, आकर्षक होने हुए भी वह सर्वथा ग्राह्य नहीं है। पूर्वपरंपराका सातत्य बनाये रखना, उसका धागा टूटने न देना, संस्कृतिकी परंपरा अविछिन्न रखनेके लिए अपने पूर्वजोंकी संस्कृतिके प्रति आदर तथा प्रेम रखना—यह उसका वास्तविक ग्राह्यांश है। वंशाभिमान रक्षण करने-जैसी वस्तु नहीं है।

इसके विपरीत साम्यवादमें दूसरे ही प्रकारका गुण है। वह देखता है कि सारी दुनियाके गरीब उत्तरोत्तर अधिक गरीब होते जाते हैं और अमीर ज्यादा अमीर। गरीबोंके पेटकी खाई गहरी होते-होते प्रशांत महासागरके बराबर हो गई है और श्रीमानोंके धनकी पहाड़ी ऊंची होते-होते हिमालयके सदृश हो गई है। यह अंतर सहा न जानेके कारण साम्यवाद पैदा हुआ। वह कहता है कि बहुमतके नामपर आज जो प्रणाली जारी है, वह यथार्थ लोकसत्ता नहीं है।

सिर गिननेकी लोकसत्ता सच्ची लोकसत्ता नहीं है। क्योंकि ऐसी लोकसत्तामें गरीबोंके सिर श्रीमानोंके हाथोंमें रहते हैं। इसलिए गरीबोंके मतदानका कोई मूल्य नहीं। जबतक श्रीमंतोंका नाश नहीं होगा, दोनोंको समान अधिकार प्राप्त नहीं हो सकते। मौजूदा मतदान-पद्धति सिर्फ आकारमें लोकसत्ताके समान है। हम आकारमें नहीं; अपितु प्रकारमें भी लोकसत्ता स्थापित करना चाहते हैं। वह पक्षपातहीन लोकसत्ता होगी। आज यदि निष्पक्ष रहना हो तो गरीबोंका पक्षपात करना ही होगा। आजतक समान-अधिकारके नामपर श्रीमानोंकी प्रतिष्ठा खूब बढ़ाई गई। समत्व, न्याय और समान-अवसरका स्वांग रचा गया। समान-अवसर माने गरीबोंकी पिसाई। गामा पहलवान और लकड़ी-पहलवानकी कुश्ती तय कराकर दोनोंको समान-अवसर देनेका दम भरा जाता है। गामा पहलवानकी जीत निश्चित है। पहले गरीबोंका उद्धार कीजिए; बादमें समान-अवसर आदि सिद्धांतोंकी बात कहिए। गरीबोंके उद्धारके लिए चाहे जैसे साधनका प्रयोग करना पाप नहीं है। इस प्रकार साम्यवादमें गरीबों-के प्रति पराकाष्ठाकी आस्थाका गुण है।

इस प्रकार दो गुणोंकी बदौलत ये दो वाद संसार और हिन्दुस्तानमें फैल रहे हैं। हमारे महाराष्ट्रमें भी फैलना चाहते हैं। मैं महाराष्ट्रके ही विषयमें बोलता हूं। क्योंकि अगर मैं महाराष्ट्रके दोष दिखाऊं तो वह मेरा प्रांत होनेके कारण, गलतफहमी नहीं होगी। महाराष्ट्रमें 'हमारा महाराष्ट्रधर्म' 'हमारी पेशवाई' (पेशवाशाही), हमारा 'मर्द मराठा सिपाही', 'हमारी संस्कृति', 'हमारे समर्थ (रामदास) और उनकी बजरंगबलीकी उपासना', आदि भाव-नाओंको जो प्रोत्साहन देता है, उसके प्रति तरुणोंमें आकर्षण पैदा होता है। इसी कारण महाराष्ट्रके तरुणको हिंदू महासभावालोंके विचार पसंद आते हैं। वह उन विचारोंमें प्राचीन इतिहासके अभिमानका बहुत बडा गुण देखता है। दासनवमी (श्रीरामदास जयंती); हनूमानजयंती, भीष्माष्टमी, शिवाजी-उत्सव आदिसे प्रेरणा और आवेश मिलते हैं। अतः उस पक्षमें दूसरे कितने ही दोष क्यों न हों तो भी वह तरुणोंको आकर्षक प्रतीत होता है। उसमें पूर्वपरंपराके अभिमानका गुण है।

मुसलमानोंमें यही विचार मुस्लिमलीगने फैलाया—'इस्लाम कितना वैभवशाली था, हिन्दुस्तानमें किसी समय उसका साम्राज्य किस प्रकार था', इत्यादि। पूर्वपरंपराके अभिमानका गुण उसमें है।

इस प्रकार हिंदूसभा और मुस्लिमलीगका कार्य नाजी-परंपराका है। वे जब आपसमें खुलकर बोलते हैं, तब कभी-कभी यह बात मान लेते हैं। आम तौरपर नहीं बोलते। लेकिन उनकी सहानुभूतिका स्थान वह है। शपथविधि, गुप्तता, आदि सारे लक्षण विद्यमान हैं। वह हरा झंडा, वह कुरानकी कसम, वह हनूमानजीकी साक्षी, वह शपथ, वह ध्वज—यह सारा देखकर एक तरहका उत्साह मालूम होने लगता है। ऐसा अनुभव होने लगता है कि ये लोग हमें बिलकुल ही गलत रास्तेसे नहीं ले जा रहे हैं; पूर्वजोंके परिचित मार्गसे ले जा रहे हैं। इस भावनाके आधारपर ये नाजी-सम्प्रदाय हिंदुस्तानमें बढ़े हैं।

हिंदुस्तानकी गरीबी उपनिषत्के ब्रह्मके समान है, उसकी कोई उपमा या तुलना नहीं है। ब्रह्मके समान 'वह एकमेवाद्वितीय' है। इसलिए गरीबोंके लिए आस्था और अमीरोंके प्रति चिढ़ रखनेवाला साम्यवाद आकर्षक मालूम होता है और फैलता है।

इस तरह दो भिन्न कारणोंसे ये दो भिन्नवाद आकर्षक हो गये हैं। पूर्व-परंपराके अभिमानकी बदौलत नाजीवाद आकर्षक हो उठा है। हिंदू और मुसलमानोंको अभिमानका स्थान दिखाकर वह हिंदुस्तानमें फैला है। दरिद्रताके कारण साम्यवाद आसानी से गले उतरता है। मैं दोषाविष्करणके उद्देश्यसे इन वादोंकी समीक्षा नहीं करता। क्योंकि हमें केवल उनके गुण ही देखने हैं।

अब तीसरे वादकी समीक्षा करता हूं। वह गांधीने उपस्थित किया है। हमें उसके रूपको भलीभांति समझ लेना चाहिए। कुछ लोग समझते हैं—यह बेचारा गुजराती 'सामलूभाई' (ढीलाढाला, पिलपिला आदमी) ठहरा। इसका क्या 'वाद-आद' हो सकता है। ये बेचारे गुजराती डरपोक, गाय-जैसे सीधे, सांपको भी न मारनेवाले लोग हैं। इन्होंने व्यापारके सिवा और कुछ नहीं किया है। तलवार कभी उठाई नहीं है। उस परंपराका यह 'सामलू' है। उसका वाद उसी तरहके लोगोंको जंचेगा।

लेकिन मैं तुमसे कहता हूं कि बात ऐसी नहीं है। अगर ऐसी बात होती—याने इस वादमें डरपोकपन और 'सामलूपन' होता —तो एक महाराष्ट्रीके नाते मैंने उसे कभीका फेंक दिया होता। 'सामलूपन' कड़आ, मीठा, खट्टा, चाहे किसी भी तरहका क्यों न हो, मैं तुमसे उसकी सिफारिश नहीं करूंगा।

परंतु मैं कह चुका हूं कि वस्तुस्थिति वैसी नहीं है। तुम जांच-पड़ताल कर देख लो। अगर इस वादकी जांच तुम नहीं करोगे तो मैं कहूंगा कि तुम विद्यार्थी बुद्धू बन चले हो। दूसरा आरोप नहीं करूंगा। सिर्फ 'बुद्धू' कहूंगा।

हिंदुस्तान आज डेढ़ सौ वर्षोंसे निःशस्त्र है। न शस्त्र-शक्ति है, न द्रव्य-शक्ति ही रह गई है। इस तरह यह एक केवल शक्तिहीन राष्ट्र था। इस राष्ट्रके सामने यह प्रश्न उपस्थित था कि वह कमर सीधी रखनेकी शक्ति कैसे हासिल करे। इस विषयमें विचार-मंथन शुरू हुआ। 'शस्त्र और द्रव्य दोनों तरहकी शक्ति गायब हो जानेके बाद भी क्या कमर सीधी रह सकती है? क्या अपनी पूर्वपरंपरापर कायम रहते हुए यह सिद्ध हो सकता है'? इस तरहके विचारका मंथन शुरू हुआ। चालीस करोड़ लोगोंमें सीधे खड़े होनेकी शक्ति निर्माण करनी है।

किसीने समझा पाश्चात्योंका अनुकरण करना चाहिए, उनकी विद्या सीखनी चाहिए। किसीकी रायमें धर्म-सुधारसे ही हमारी उन्नति होगी। धर्म-सुधारकी शक्ति उत्पन्न करनेके लिए ब्राह्मसमाज, प्रार्थनासमाज, आर्यसमाज, थिआसॉफ़ी आदि संस्थाएं स्थापित हुईं। ये सारे समाज ऊपरसे धार्मिक भले ही प्रतीत होते हों, उनकी जड़में दूसरी ही बात थी। 'हमारी द्रव्यशक्ति और शस्त्रशक्ति जाती रही,अब हम बुद्धिशक्ति के बल सीधे कैसे खड़े हो सकेंगे?,—यह वृत्ति उन सबके पीछे थी।

बुद्धि-शक्तिकी प्राप्तिके लिए ही शिक्षण-विषयक सुधार शुरू हुए। बुद्धि-शक्ति ही एक मात्र आशा रह गई थी। इसलिए गांधीके पूर्वकालमें धर्म सुधार-के साथ शिक्षण-सुधार जोड़ दिया गया था। राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द, देवेंद्रनाथ ठाकुर, रानडे, रविबाबू, अरविन्द प्रभृतिने बुद्धि के जोर-पर आगे आनेका यत्न किया। जब शस्त्रकी ताकत न रही, द्रव्यकी ताकत न

रही तो और क्या करते ?

शिक्षण-विषयक सुधारमें अंग्रेजी विद्याका अनुसरण शुरू हुआ। तब दूसरा एक पक्ष सामने आया। वह कहने लगा, "हमें अंग्रेजी की उपासना नहीं चाहिए। प्राचीन विद्याओंको गति देकर नवीन स्वरूप दो।" इस विचारके अनुसार गुरुकुल आदि संस्थाएं खुली। उसमेंसे तीसरा आंदोलन राष्ट्रीय शिक्षाका निकला। प्राचीन संस्कृत विद्या और नवीन विद्यासे लाभ उठानेका यह प्रयत्न था। ऐसा माना जाने लगा कि पुनरुज्जीवन और सुधारका शिक्षण ही राष्ट्रीय शिक्षण है। लेकिन तीनों प्रकारोंके मूलमें विचार एक ही था। वह यह कि बुद्धिके द्वारा शक्ति निर्माण करेंगे। शक्ति निर्माणके तीन द्वार हैं—धन बल, और बुद्धि। लक्ष्मी और शक्तिके दरवाजे प्रायः बंद हो गये। तब अंग्रेजोंसे टक्कर लेनेके लिए तीसरा विद्याका ही द्वार बाकी रह गया। इस विचारसे यह आंदोलन शुरू हुआ। कई सुधारकोंने उसमें भाग लिया।

लेकिन बुद्धिमें शक्ति कैसे आवे ? बुद्धिका क्या स्वतंत्र पोषण होता है ? क्या आचारहीन बुद्धि शक्तिशालिनी हो सकती है ? निराचार बुद्धि शक्तिशाली नहीं हो सकती। जबतक बुद्धि आचारमें परिणत करनेकी प्रक्रिया सिद्ध नहीं होती, तबतक स्वतंत्ररूपसे बुद्धि शक्तिशाली नही होती। जब यह ध्यान में आया, तब कांग्रेस स्थापित हुई। उसके पहले बुद्धिमान लोग कहने लगे कि "आओ, हम गरीबोंकी शिकायतें दूर करनेके लिए अपनी बुद्धि काममें लायें, अर्थात् उसे सक्रिय बनायें। लेकिन शिकायतें पेश करके उनका निराकरण कराने का प्रयत्न एक मर्यादातक ही सफल होता है। पूर्ण सफल नहीं होता। अव्यक्त शिकायतें व्यक्त हो जाती हैं। लेकिन बुद्धि जबतक क्रियात्मक नही होती, तबतक सफल नहीं होता। इसलिए कांग्रेस शिकायतें तो पेश करती थी; लेकिन उसकी बात हवामें उड़ जाती थी। उसका प्रयत्न सफल नहीं होता था। क्यों नहीं होता था ? इसलिए कि शिकायतोंके दूर होनेकी संभावना नही थी। सो कैसे ?— इसलिए कि सारी शिकायतोंका मूल कारण, शिकायतोंकी शिकायत, परतंत्रता ही है।

यह बात कांग्रेसके ध्यानमें आ गई। सहज ध्यानमें आनेवाली है। मनुष्य

और सब डालियां काट सकता है; लेकिन जिस शाखापर वह खड़ा हो उसे नहीं काट सकता। अंग्रेज सरकार कई सुधार कर सकती है। लेकिन उसकी सत्ता अकेली हमारी गुलामीकी डालपर खड़ी है। उस मुख्य शाखाको वह कैसे तोड़ेगी? तुम बुद्धिवाद करके कितना ही समझाओ; जैसे उन्होंने मुझसे कहा 'कृपया हिंदी में बोलिए', उसी तरह तुम भी कहो, 'कृपया इतनी शाखा तोड़िए', तो वह कैसे सुन सकती है? वह कृपा उसकी जान ले लेगी। सरकार फुटकर टहनियां तोड़ेगी। कहेगी "कहतमें मदद करेंगे, मराठी-हिंदीको विश्वविद्यालयोंकी परीक्षाओंमें स्थान देंगे; लेकिन मख्य शाखाको हाथ न लगाइए। 'स्वतंत्रताकी जय' न बोलिए; 'अंग्रेज सरकारकी जय' बोलिए।"

बात लोगोंके ध्यानमें आ गई। जिस शाखापर अंग्रेजोंकी सत्ता खड़ी है, उसे काट डालिए कहनेसे सरकार कैसे काटेगी? यह बात ध्यानमें आनेपर सवाल यह हुआ कि अब क्या करें? तब पता चला कि शक्तिसे ही राज्य मिलते हैं और युक्तिसे यत्न होता है। मतलब, शक्ति प्राप्त करनी चाहिए। गुप्तरूपसे कार्य करना ही युक्ति है ऐसा समझा जाने लगा। अब, 'अधिकारियोंको मारें, षड्यंत्र करके बम बनावें'—इस प्रकारके विचार शुरू हुए। अफसरोंके खून हुए। यह सब शुद्ध बुद्धिसे हुआ। जिन लोगोंने बमका प्रयोग किया उनका स्मरण मैं भी पवित्र मानता हूं।

लेकिन उन्हें क्या अनुभव हुआ? बम बनानेके लिए पैसोंकी जरूरत है। शिवाजी महाराजने भी षड्यंत्र किये। उन्हें भी साधन जुटाने पड़े। उसके लिए सूरत शहर लूटना पड़ा। मराठोंने बगालमें डाके डाले। अब ये लोग भगवद्गीताकी दुहाई देकर सद्भावनासे डाके डालने लगे। लेकिन पहलेसे ही जो पेशेवर गरीब लुटेरे थे, वे भी डाके डालने लगे। इनकी अपेक्षा वे निपुण थे। उन्होंने ज्यादा डाके डाले। लेकिन इसका लोगोंको कैसे पता चले? लोग कैसे जानें कि कौन-सा डाका किसका है? बकरा क्या जाने कि छुरी किसकी है? उसे क्या पता कि उसकी गरदन काटनेवाली छुरी उसे यज्ञके लिए मारनेवाले ब्राह्मणदेवताकी है, या मांस बेचनेवाले कसाईकी? लोग डाकोंको पहचान न सके। 'हमें बचाओ', इतना ही कहने लगे। इसलिए सरकारकी अच्छी बन

आई। अराजक और डाकूमें फर्क न कर सकनेकी वजहसे बमोंका मार्ग बेकार हुआ।

बादमें महात्मा गांधी आए। उन्होंने कहा, "अराजकोंका पंथ तो ठीक है; लेकिन पद्धति सही नहीं है। मुख्य शाखा ही तोड़नी चाहिए। इसलिए उनका पंथ उचित है। लेकिन वह हिंदुस्तानमें हिंसासे हो नहीं सकता।" संसारमें कहीं नहीं हो सकता। संगठित हिंसापर रची हुई यह प्रक्रिया जब व्यापक परिमाणमें आजमाई जाय, तभी सफल हो सकती है। आजकी सरकारें अत्यन्त संगठित और व्यापकतम हिंसाकी सरकारें हैं। उतना व्यापक हिंसक संगठन प्रजा नहीं कर सकती। इसलिए उसकी हिंसा किसी कामकी नहीं साबित होती। प्रजाके हिंसक संगठनमेंसे शक्ति निर्माण नहीं होती। बहुत हो तो राष्ट्रप्रेमकी प्यास बुझती है। कुछ-न-कुछ करनेकी तमन्ना शांत होती है। व्यक्तिगत संतोष मिलता है। लेकिन संगठनके लिए यह पद्धति उपयोगी नहीं है। राष्ट्रीय उत्थानकी दृष्टिसे कार्यक्षम नहीं है।

इसलिए गांधीने कहा, "आम जनताका खुले तौरपर संगठन करनेकी मेरी पद्धति ही परिणामकारक ठहरेगी। सरकार स्व-सत्तापर नहीं टिकती। लोगोंसे मिली हुई सत्तापर टिकी हुई होती है। उसे लोगोंके आधारकी जरूरत होती है। सरकार और लोग, इन दोनों हाथोंसे राज्यकी ताली बजती है। आप अपना हाथ हटा लीजिए, उसका हाथ अपने-आप ढीला पड़ जायगा। लोग अपनी दी हुई सत्ता हटा लें तो सरकार नहीं टिक सकती। इस प्रकारके संगठन-द्वारा ही हम प्रतिकारकी शक्ति निर्माण कर सकेंगे।"

हिंदुस्तान इतना बड़ा चालीस करोड़का राष्ट्र कैसे बना? हमारी पूर्व-परंपराके गुणकी बदौलत इतना बड़ा राष्ट्र बना। यह हलका-पतला राष्ट्र नहीं है। हमारे परमपूज्य राष्ट्र-कवि रवींद्रनाथ ठाकुरने भारतको **'एइ भारतेर महा-मानवेर सागरतीरे'** कहा है। सारी दुनियासे आ-आकर लोग यहां बसे हैं। सभी तो आक्रमण करके जबरदस्ती आकर नहीं बैठे हैं। हमने उन्हें जान-बूझकर आश्रय दिया। पारसियोंने आक्रमण नहीं किया था। हमने समझ-बूझकर उन्हें जगह दी। हमारे राष्ट्रकी मर्यादाकी एक पुरानी परंपरा है—

हम दूसरोंको अवसर दे सकते हैं और दूसरोंपर आक्रमण नहीं करते।

इस परंपरामेंसे गांधीको यह विचार मिला। हमारे पास प्रतिकारका शस्त्र है। शस्त्र माने शासन या नियमन करनेवाला। यह अर्थ हाथपर घटित होता है। हथियार तो शस्त्र ही नहीं है। वह औजार है, जड़ वस्तु है। वह स्वतंत्र चीज नहीं है। उसकी दरकार नहीं।

हिंदुस्तानकी महान् आवश्यकता, उसके इतिहासकी एकमात्र मांग, पूरी करनेके लिए विचार उत्पन्न हुआ। इसीलिए वह फैला। संसारमें इतरत्र अहिंसाको स्थान नहीं है। हिंदुस्तानमें तरुण भी इसकी चर्चा करते हैं कि राष्ट्रीय व्यवहारमें हिंसा बड़ी है या अहिंसा? अहिंसाके मार्गपर यह बहुत बड़ी प्रगति है। हम यह नही कहते कि सब-के-सब फौरन अहिंसावादी बन जायें। सबको विचार ही करना चाहिए। आज तरुणोंने भी हिंसाका नये सिरसे विचार शुरू किया है, यह सच्ची प्रगति है। इससे अधिक तेजीसे गांधीका विचार फैलना मुमकिन नहीं था। फैलना भी नहीं चाहिए। धीरे-धीरे, विचार करनेके बाद, सोच-समझकर ही उसका स्वीकार होना चाहिए।

यह विचार-धारा हिंदुस्तानकी पूर्वपरंपरामेंसे पैदा हुई है या नहीं? मेरा मतलब हिंदुस्तानकी मुख्य पूर्वपरंपरासे है; फुटकर प्रवाहोंसे नहीं। हिंदुस्तानमें परंपराके बहुत-से फुटकर प्रवाह हैं। मराठोंकी, राजपूतोंकी, सिक्खोंकी, ऐसी कई परंपराएं हैं। लेकिन असंख्य धर्मों और जातियोंको एकत्र रखनेवाली जो परंपरा है, वही मुख्य परंपरा है। उसीमेंसे इस विचारका निर्माण हुआ। उस परंपराका अभिमान धारण कीजिए।

इस प्रकार नाजीवादका तत्त्व, अर्थात् उसका गुण, भी इस विचारसे भली-भांति मेल खाता है। जेलमें मैंने इस परंपराका विचार किया। महाराष्ट्र और हिंदुस्तानका विचार किया। ठेठ वेद-कालसे लेकर आजतक सारे भारतके इतिहासमें जिन-जिन व्यक्तियोंने क्रांति की, उनका विचार किया। शक, हूण, द्राविड़, आंध्र, मुसलमान प्रभृतिमें हुए क्रांतिकारक व्यक्तियोंका इतिहास देखा। उसमें महाराष्ट्रकी परंपरा इतनी छोटी ठहरती है, ब्राह्मणोंकी इतनी क्षुद्र ठहरती है कि उनका अलग विचार करने की जरूरत नहीं। हिंदुस्तानकी परंपरा

एक महान् वटवृक्षकी परंपरा है। उस वटवृक्षका आश्रय करनेके बदले उसकी शाखाएं काटकर सिर फोड़ लेना उदात्त अभिमानका लक्षण नहीं है। हिंदुस्तानकी परंपरा हिंदू, मुसलमान, पारसी, सिक्ख, जैन, बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात आदि सबके श्रेष्ठ शास्त्रकारोंकी और असंख्य साधुसंतोंकी परंपरा है। अगर मैं इस परंपराको छोड़ूंगा तो अपने राष्ट्रका तेजोवध करूंगा; राष्ट्रको खस्सी करूंगा, इसके विषयमें मुझे संदेह नहीं रहा।

इस अर्थमें नाजीवादका पूर्वसंस्कृतिके अभिमानका गुण भिन्न स्वरूपमें गांधीवादमें है। लेकिन उसका स्वरूप इतना भिन्न है कि उसमें नाजीवादके वंशाभिमानका दोष नहीं है। हमारी पूर्वपरंपरा व्यापक है। इसलिए उसका अभिमान भी करीब-करीब विश्वव्यापी है। उस पूर्वपरंपराका सातत्य बनाये रखनेका, उसमें अनुसंधान रखनेका, गुण गांधीवादमें है। वह 'नाशीवाद' के पूर्वपरंपराके अभिमानके सदृश है। उतना ही आकर्षक भी है। लेकिन 'नाशीवाद'-के वंशाभिमानकी संकुचितता उसमें नहीं है। इसलिए उसे अभिमान भी नहीं कह सकते। प्राचीन कालके सांस्कृतिक प्रयत्नोंसे अनुसंधान रखना ही उसका मुख्य लक्षण है।

कुछ साम्यवादियोंकी यह भाषा कि गरीबोंका उद्धार करना चाहिए, गलत है। 'गरीबोंका उद्धार करनेवाला, उन्हें उबारनेवाला, मैं अलग हूं,' यह भावना उसमें छिपी हुई है। 'अगर मैं उन्हें न बचाऊं, तो उनका उत्थान नहीं हो सकता', यह मिथ्या अभिमान उसमें है। गरीबोंका उद्धार उन्हींके हाथोंमें है। गांधीने आम जनताको ऐसी शक्ति प्रदान की है। साम्यवादने रूसमें जो किया, वह यहां नहीं हो सकता। रूस सरीखी सुविधा यहां असंभव है। और न आवश्यक ही है। कारण उससे गरीबोंको शक्ति नहीं मिलेगी। गरीबोंका उद्धार गरीबोंके ही द्वारा होना चाहिए। यह साम्यवादका सार है। उसे हम अपना लेते हैं। बादाम और दूधका भी शरीरके लिए उपयोगी अंश ही हम स्वीकार करते हैं। साम्यवादके बारेमें भी सारासार विचार करना चाहिए। गरीबोंका उद्धार गरीबोंको ही करना चाहिए उसका यह सारभूत अंश हमें स्वीकार कर लेना चाहिए और निःसार अंश त्याग देना चाहिए।

साम्यवादकी प्रक्रियामें हिंसाके द्वारा क्रांतिका प्रतिपादन है। यह उसका निःसार अंश है। हिंसाकी शक्ति जनताकी शक्ति नहीं हो सकती। विद्वत्ता भी आम जनताकी शक्ति नहीं है। बुद्धि तो मुट्ठीभर ब्राह्मणोंकी शक्ति मानी जाती थी। वह उन्हींके ताले-कुंजियोमें बंद रहती थी। तलवार भी आम जनताकी शक्ति नहीं है। बूढ़े, स्त्रियां, बच्चे, अशक्त, इनकी वह शक्ति नहीं है। वह तो बत्तीस इंच या चौंतीस इंच छातीवाले तगड़े प्राणियोंकी शक्ति है। इतने चौड़े सीनेवाले ऊंचे-पूरे प्राणी हमेशा सज्जन ही नही होते। उनकी शक्ति स्थायी नहीं होती। हिंसाकी शक्तिसे जो अर्जन करोगे, उसे संभालनेके लिए निरतर हिंसा ही करनी पड़ेगी। गरीबोंकी, आम जनताकी, वह शक्ति नहीं हो सकती।

जर्मनी-द्वारा रूसके आक्रमणका नैतिक समर्थन नहीं हो सकता। लेकिन तात्त्विक समर्थन हो सकता है। रूसका फौजी खर्च सालाना सोलह सौ करोड़का है। मामूली, शांतिके समय इतनी प्रचंड सैनिक शक्ति बढ़ती हुई देख उसे अनिरुद्ध बढ़ने देनेके लिए जर्मनी गधा नहीं है। रूस इतनी फौज किसलिए बढ़ा रहा था? क्या सिपाहियोंको गौरीमैयाकी तरह सजाकर उनकी आरती उतारनेके लिए? साम्यवादको संसारमें हिंसासे रूढ़ करनकी रूसने ठान ली है। इसलिए वह इतना फौजी खर्च करता है। साम्यवादी विचारोकी परपरा पनपने देना जर्मनीके लिए इष्ट नहीं है। इसलिए रूसकी ताकत तोड़ देना जर्मनीकी दृष्टिसे बुद्धियुक्त ठहरता है।

रूसकी शक्तिसे लाभ उठाना इंग्लैंडकी दृष्टिसे बुद्धिमानीका लक्षण है। इंग्लैंड कहता है, "रूसकी फौजी शक्तिके प्रयोग द्वारा आज जर्मनीका सामना कर लें। साम्यवादसे बादमें निपट लेंगे।" रूस अमेरिकासे कहता है "भाई, हमने धर्मकी बिलकुल ही मिट्टी पलीत नहीं की है। तुम हमारी मदद कर सकते हो।"

अर्थात् रूसको पाखंडियोंकी खुशामद करनी पड़ती है। यह क्या हो रहा है? यह उस राष्ट्रकी परावलंबी दशा है। क्या इससे साम्यवाद टिकेगा? क्या वह सैनिक सत्तावादसे बच सकेगा? अगर असाम्यवादी और वैषम्यवादी

राष्ट्रोंकी मददसे विजय भी होजाय, तो भी साम्यवाद नहीं रह सकता। पराजय हो तो बिलकुल ही नहीं रह सकता। जो रूसमें संभव नहीं है--संसारमें कहीं संभव नहीं है--वह हिंदुस्तानमें कैसे हो जायगा ? हिंसा जनताकी शक्ति ही नहीं है। हम जनतामें तेज निर्माण करें।

हमने साम्यवादका सार--गरीबोंकी उन्नति करनेके लिए, उन्हें अपना उद्धार अपने तईं करनेको समर्थ बनानेकी आस्था--ग्रहण किया। निःसार वस्तु त्याग दी। नाजीवादका संदेश--पूर्वपरंपरासे अनुसंधानका गुण भी ग्रहण किया। लेकिन हमारे अभिमानको 'अभिमान' शब्द ही लागू नहीं है। इतना वह व्यापक है। जो राष्ट्र एकरंगी हैं, उनका देशाभिमान संकुचित होता है। हिंदुस्तानकी परंपरा मिश्र और व्यापक है। व्यापक भारतकी, इस महामानव-समुद्रकी, मिश्र परंपराका अभिमान संकुचित हो ही नहीं सकता। वह निष्कलंक है। इस प्रकार व्यापक भारतका अभिमान और गरीब लोगोंकी शक्ति प्रकट करना--ये दो गुण दो वादोंसे लेनेवाला यह तीसरा वाद मैंने यथासंभव तटस्थतासे तुम्हें बतलाया।

'यथा संभव' कहनेका कारण एक अर्थमें मैं भी पक्षपाती हूं। मैं उस वादको मानता हूं। वह मेरे जीवनमे दाखिल हो गया है। फिर भी, मैं उसे जितनी तटस्थतासे रख सका, उतनी तटस्थतामे मैंने आपके सामने रक्खा है। मेरा पहला सूत्र याद रहे। मैं कहता हूं इसलिए या गांधी कहते हैं इसलिए, उसे न स्वीकारिए। व्यापक बुद्धि और तटस्थ वृत्तिसे विचार कीजिए।

यह बतला चुका हूं कि हिंसा जनताकी शक्ति नहीं है। अब यह दिखाना बाकी है कि अहिंसा जनताकी शक्ति कैसे हो सकती है ? याने अहिंसाको सामाजिक रूप कैसे दिया जा सकता है ? एक-एक व्यक्तिकी विजयके उदाहरण हमारे यहां और संसारमें पाये जाते है। एकनाथ महाराज, ईसा, सुकरात ने दृढ़ताकी सामर्थ्य प्रकट की है।

प्रयोगकी प्रक्रिया ऐसी ही होती है। विज्ञानके क्षेत्रमें भी एक-एक व्यक्ति प्रयोगशालामें प्रयोग करता है। उसके सिद्ध होनेपर उस सिद्धांतका व्यापक प्रयोग अथवा सामाजिक विनियोग होता है। भापकी शक्तिका आविष्कार

व्यक्तिगत प्रयोगसे हुआ। चायकी केटलीकी भापपरसे आविष्कार हुआ। तदुपरांत समाजमें उसका विनियोग हुआ। यदि वह शोध व्यक्तितक ही सीमित रह जाती, तो बेकार साबित होती। अहिंसामें व्यक्तिगत प्रयोग भी अकारथ नहीं जाता। अहिंसाकी शक्ति व्यक्तिगत होनेपर भी कार्य करती है; उसे सामाजिक रूप दिया जाय तो बहुत बड़ा कार्य करती है।

एक शंका की जाती है : 'क्या सारा समाज एकनाथ, बुद्ध या खीस्त बन सकता है?' यदि बन सकता, तो तुम्हारे सामने योजनाएं ही पेश न करनी पड़तीं। हम-तुम सामान्यजन उनके प्रयोगसे लाभ उठा सकते है। उसके लिए उनके बराबर शक्तिकी जरूरत नहीं है। गुरुत्वाकर्षणके शोधके लिए न्यूटनमें विशेष बुद्धि होनी चाहिए। लेकिन उस शक्तिसे काम लेनेके लिए मिस्त्रीमें उतनी बुद्धिकी जरूरत नहीं है। हिटलर भी अपने क्षेत्रमें अद्वितीय है। वह नये-नये शस्त्रास्त्रोंका शोध करता है। लेकिन उसे जिस बुद्धिकी जरूरत होती है, वह उन अस्त्र-शस्त्रोंका बरतनेवाले सिपाहीको नही होती।

प्रथम शोध करनेवालोंको अद्भुत और अलौकिक होना ही चाहिए। लेकिन सामाजिक प्रयोगोंके लिए हर एकमें अलौकिक शक्तिकी जरूरत नहीं है। गांधीको अलौकिक, अद्वितीय शक्तिकी आवश्यकता है। अन्यथा वे आविष्कार नहीं कर सकते। लेकिन उस शक्तिके सामाजिक प्रयोगके लिए अलौकिक सामर्थ्यकी आवश्यकता नहीं है।

गुण्य-गुणकका उदाहरण लीजिए। तकली बिलकुल छोटी-सी है। उसपर चालीस ही तार कत सकते है। लेकिन अगर उसे चालीस करोड़ हाथ चलाने लगें, तो चालीस करोड़ गुने चालीस तार होंगे। अहिसा भी ऐसी ही है। तकलीकी तरह वह सीधी-सादी, सुविधाजनक और छोटा-सी है। उसे बूढ़े, बच्चे, स्त्रियां सब चला सकते है। मिलके लिए हॉर्सपॉवरकी जरूरत होती है। तकलीके लिए नहीं। एक ईसाको जितनी शक्तिकी जरूरत होती है, उतनी सामाजिक प्रयोगके लिए नहीं होती। क्राइस्ट अहिंसाके प्रयोगकी मिल और हम चालीस करोड़ लोग अहिंसाके प्रयोगकी तकलियां हैं। हम एक-एक तोला अहिंसक शक्ति प्राप्त करें, तो भी वह समाजके लिए हजरत ईसाकी अहिसा-

की अपेक्षा अधिक उपयोगी ठहरेगी। खेतमें एक ही जगह मनों खाद डालनेसे काम नहीं चलता। अगर एक-एक इंच ही खाद सारे खेतमें बिखेर दिया जाय और वह जमीनमें गले, तो ज्यादा उपयोगी साबित होता है। हम भी अगर थोड़ी-थोड़ी अहिंसक शक्ति कमाएं, तो हिमालयसे भी बुलंद कार्य होगा, जो ईसाकी मनों अहिंसाकी अपेक्षा अधिक प्रभावोत्पादक होगा।[1]

(सर्वोदय : फरवरी, १९४२)

: १३ :

गो-सेवाका रहस्य

आज आपके सामने मैं जो थोड़ा-सा जिक्र करना चाहता हूं, उसकी प्रस्तावनामें कुछ कहनेकी जरूरत मानता हूं। कल हमलोगोंकी जो सभा हुई थी, उसमें मैंने कहा था कि आप लोग मुझे अध्यक्ष बना रहे हैं, लेकिन मैं कुछ जंगली जानवर हूं। इसीलिए अगर आपको कुछ असभ्यता मेरे बर्तावमें दिखाई पड़े, तो उसे बरदाश्त करना होगा, वैसे भी मेरा जन्म जंगलमें हुआ, और जिसे आधुनिक शिक्षण कहते हैं, वह मुझे मिला न मिला, इतनेमें मुझे उपनिषद् पढ़नेकी इच्छा हुई। आपमेंसे कुछ लोग जानते ही होंगे कि उपनिषद् एक जंगली साहित्य है। उसको संस्कृत भाषामें 'आरण्यक' कहते हैं। उसका हिंदीमें सीधा तर्जुमा 'जंगली साहित्य' ही होगा। उसमें ईश्वरके स्वरूपका वर्णन करते हुए दो लक्षण बतलाये हैं—**'अवाकी अनादरः'**। यानी वह न बोलता है और न किसी चीज की परवाह करता है। मेरे स्वभावमें भी यह बात आ गई। और ऐसी छोटी-मोटी कई बातें हो सकती हैं, जिनकी कि मैं परवाह करता हूं या नहीं करता, उसका भी पता मुझे नहीं रहेगा। कृपया उनको आप सह लेंगे।

दूसरी बात, जो उसीका हिस्सा है, मुझे यह कहनी थी कि मेरी मातृ-भाषा मराठी है, और मराठी भाषामें यद्यपि अद्‌भुत सामर्थ्य भरी हुई है, तो भी एक

---

[1] वर्धाके 'जीवन समीक्षक मंडल' में (२२ दिसंबर १९४१ को) दिया गया भाषण।

चोजकी कमी है। वह यह कि जिसको दरबारीपन या सभ्यता कहते हैं—जो उर्दू, हिंदी, हिंदुस्तानी भाषामें है—वह मराठीमें मौजूद नहीं है। हम हजार कोशिश करें तो भी 'आप आइएगा, बैठिएगा' का तर्जुमा मराठीमें ठीक-ठीक कर नहीं सकते। इसलिए इस दृष्टिसे जो कुछ कमियां मुझमें रह गई हों, उन्हें आपको वर्दाश्त करना होगा।

इसके बाद प्रस्तावनामे एक बात और मुझे कहनी होगी। मुझे सूचित किया गया था कि मैं अपना व्याख्यान लिखकर दे दूं। शायद यह एक सभ्यताका ही रिवाज है। लेकिन वह मैं नहीं कर सका। क्योंकि अक्सर लोगोंको देखे बिना मुझे कुछ सूझता ही न ीं, यह तो हमेशाकी बात हुई। लेकिन इस वक्त एक खास वजह यह भी थी कि यहांपर बापूका व्याख्यान होनेवाला था। मैंने सोचा कि उनका व्याख्यान मैं सुनूंगा और उसके प्रकाशमें बोलूंगा, यानी उन बातोंको दुहराऊंगा जिनका उन्होंने विस्तार किया होगा; और उन्होंने जो बातें नहीं कही होंगी, उन्हें मैं कहूंगा। यह सोचकर मैंने अपना भाषण लिखकर नहीं भेजा और अब वह व्याख्यान जबानी ही हो रहा है। अगर इस चीजके लिए क्षमा मांगनेकी जरूरत मानी जाती हो, तो वह मैं मांग लेता हूं।

पहले तो मैं नामसे ही शुरू करूंगा। क्योंकि नामकी महिमा सभी जानते हैं। हमारे संघका नाम 'गो-सेवा संघ' है। उसको सुनते ही सहज सवाल होता है, कि "क्या आपने कभी 'गो-रक्षा' शब्द सुना है? उसे जानते हुए भी 'गो-सेवा' शब्द आपने रक्खा है, या यों ही बे-सोचे-समझे या अनजानमें गो-सेवा नाम रख दिया है?"—इसका जवाब देना जरूरी है।

संस्कृतमें 'गो-सेवा' शब्द हमको शायद ही मिलेगा। वहां 'गो-रक्षा' शब्दका प्रयोग है। इसलिए हम सब लोग वह शब्द जानते हैं। लेकिन जानकर भी हेतुपूर्वक, उसको छोड़ा है और 'गो-सेवा' शब्द अधिक नम्र समझकर चुन लिया है। यानी हम अपनेमें गो-रक्षा की सामर्थ्य नहीं पाते, इसलिए गो-सेवासे संतोष मान लिया है। अर्थात् दयाभावसे, हमसे जितनी हो सकेगी, उतनी हम गायकी सेवा करेंगे और भगवान्की कृपासे जब हममें ताकत आ जायेगी, तब फिर हम गो-रक्षा करेंगे।

लेकिन, जब हम 'गो-सेवा संघ' कहते हैं, तो यह पूछा जायगा कि "आप लोग गायकी क्या सेवा करना चाहते हैं ? अगर आप गायका दूध और घी बढ़ाना चाहते हैं, और अच्छे बैल पैदा करना चाहते हैं, तो उसमें कौन-सी 'गो-सेवा' है ? उसमें तो आप लोग अपनी खुदकी ही सेवा करना चहते हैं। अंग्रेज लोगोंने 'पब्लिक सर्विस' शब्द निकाला है वैसी ही आपकी यह गो-सेवा हुई"--ऐसा आक्षेप हो सकता है। उसके जवाबमें कुछ कहना ठीक होगा।

हम लोग अपनी मर्यादा समझते नहीं। इसीलिए यह सवाल उठ सकता है। 'सेवा' और 'उपयोग'के बीच कोई आवश्यक विरोध नहीं है, यह समझने-की जरूरत है। हम जिस प्राणीका उपयोग नहीं करने, उसकी सेवा करनेकी ताकत हममें नहीं होती, यह हमारी मर्यादा है। उसमें स्वार्थका कोई मुद्दा नहीं है। एक-दूसरे की सेवा करनेका यही एक रास्ता हमारे लिए ईश्वर ने खुला रक्खा है। नहीं तो, जैसा कि बापूने बताया, पिंजरापोलोंमें जो होता है, वही सारे समाजमें होता रहेगा। आज भी हम यही हाल देखते हैं। पक्षीको खिलाते हैं और आदमीको भूखा रखते है। इस तरह दया या सेवा तो नहीं होगी, बल्कि निर्दयता या असेवा होगी।

ईश्वरके अनंत गुण हैं, उनमेंसे हमें अनेक गुणोंका अनुकरण करना है। लेकिन ईश्वरका जो विशेष गुण है, उसका अगर हम अनुकरण करेंगे, तो वह अहंकार होगा। ईश्वरके और सब गुणोंका अनुकरण शक्य है, परंतु उसके विशेष गुणका, यानी उसके ऐश्वर्यका, अनुकरण शक्य नहीं। वह सृष्टिका पालन करता है और संहार भी करता है। इसमें हम उसका अनुकरण नहीं कर सकते। बहुत तो चींटियोंके लिए शक्कर डाल देंगे। चींटियां वहाँ इकट्ठी हो जायेंगी, और अगर संयोगसे वहांपर एकाध बैल आ जाये, तो उसके पैरके नीचे वे खतम हो जायेंगी। जब ऐसी बात होगी, तो उसकी जिम्मेदारी मैं कैसे उठाऊंगा ? मैं तो कह दूंगा कि यह तो ईश्वरकी करतूत है !

यहां मुझे एक घटना याद आती ह। एक थी बुढ़िया। उसके एक बेटा था। बेटा उसकी मानता नहीं था। इसलिए वह बहुत दुःखी रहती थी। जब उसके पास मैं पहुंचा, तो वह कहने लगी, "मैंने इसको पाला-पोसा; लेकिन यह मेरी

सुनता ही नहीं ।"

मैंने उससे पूछा, "तेरे क्या यह अकेला ही लड़का है ?"

उसने कहा, "हां, तीन-चार और थे, वे सब मर गये ।"

तब मैंने अपने जंगली ढंगसे सीधा सवाल पूछा, "माजी, तुमने अपने तीन-चार लड़कों को क्यों मार डाला ?"

आप समझ सकते हैं कि मेरे इस जंगली सवालसे उसके दिलपर कितनी चोट लगी होगी ! थोड़ी देरके लिए वह सहम गई और बादमें कहने लगी, "मैं क्या करूं ? भगवान्ने चाहा सो हुआ ।" तब मैं उससे पूछता हूं, "अगर तुम्हारे तीन लड़कोंको भगवान्ने मार डाला है, सो तुम्हारा यह जो चौथा बेटा है, उसको पाला पोसा किसने ? पाला-पोसा तो तुमने और मार डाला भगवान्ने, यह कैसे हो सकता है ? या तो दोनों जिम्मेदारियां उठाओ या दोनोंको छोड़ दो ।"

जिस प्राणीका हमें उपयोग नहीं है उसकी सेवा हमसे नहीं हो सकती । गो-सेवाका रास्ता सीधा है । गायका हमें ज्यादा-से-ज्यादा उपयोग तो है ही । वह करनेकी कोशिश करेंगे और उसके साथ-साथ उसकी सेवा, अधिक-से-अधिक जितनी हो सकती है, करेंगे; जैसे कि हम अपने बच्चोंकी सेवा करते हैं । यही उसका सीधा अर्थ होता है ।

गो-सेवाका प्रथम पाठ हमें वैदिक ऋषि-मुनियोंने सिखाया और समझाया है । कुछ लोगोंका कहना ह कि गो-सेवाका पाठ पढ़ाकर ऋषियोंने हमसे अनुचित पूजाके भाव पैदा किये हैं । ऐसी पशु-पूजा वैज्ञानिक नहीं है । वस्तु-स्थिति ऐसी नहीं है । जिस तरह हम उपयोगकी दृष्टिसे विचार करते हैं, उसी तरह सीधे उपयोगकी दृष्टिसे ऋषि-मुनियोंने भी विचार किया । उसी दृष्टिसे उन्होंने बतलाया है कि हिंदुस्तानके लिए गो-सेवा मुफीद है । इसलिए वही धर्म हो सकता है । तब हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि हम गायका जितना हो सकता हो उतना उपयोग करें । वेदका वचन है—

सहस्रधारा पयसा मही गौः ।

ऐसी गाय जिससे कि हजार धाराएं रोज पदा होती हों । आप समझ

सकते हैं कि दूधकी एक धारा कितनी होती है। हिसाब करनेपर मालूम होगा कि वैदिक गायका दुध चालीस-पचास रतल होता था। इसपरसे आप समझ लेंगे कि उनकी मंशा क्या थी और गायोंसे वे क्या अपेक्षा रखते थे। आजकल गायका दूध नहीं मिलता, ऐसी शिकायतें आती हैं। वैदिक ऋषियोंने गो-सेवाकी दिशा भी बतलाई है।

अक्सर सुना जाता है कि दूध तो गायोंसे ज्यों-त्यों मिल सकता है, परंतु घीके लिए तो भैंसकी ही शरण लेनी पड़ेगी। लेकिन हमारे प्राचीन वैदिक ऋषि यह नहीं मानते। वे कहते हैं—

यूयं गावो मेदयथाः कृशं चित्।

"हे गायो, जिसका शरीर (स्नेहके अभावसे) सूख गया हो, उसे तुम अपने मेदसे भर देती हो।" यहां 'मेदयथा' यानी 'मेदती हो' का इस्तेमाल किया गया है। मेद कहते हैं चरबीको, स्नेहको, जिसे हम 'फैट' कहते हैं। इसका मतलब यह है कि दुबले-पतलेको मोटा-ताजा बनाने लायक चरबी गायके दूधमें पर्याप्त मात्रामें होनी चाहिए और अगर आज गायके दूधमें घीकी मात्रा कम मालूम होती है, तो उसे बढ़ाना हमारा काम है। वह कसूर गायमें नहीं, बल्कि हमारी कोशिशमें है।

उसीकी पुष्टिमें उन्होंने गायका वर्णन यों किया है—

अश्रीरं चित् कृणुथा सुप्रतीकम्।

जो शरीर अ-श्रीर है, उसे गाय श्रीर बनाती है। 'श्रीर' का अर्थ शोभन है और 'अश्रीर' का अर्थ 'शोभाहीन'। 'अश्रीर' से ही 'अश्लील' शब्द बना है। इसपरसे आप समझ लेंगे कि हमको गो-सेवाका पहला पाठ वैदिक ऋषियोंने पढ़ाया है, उसके विकासकी दिशा भी बतला दी है और वह दिशा अनुचित पूजाभावकी नहीं, बल्कि शुद्ध वैज्ञानिकताकी है। यानी परम उपयोगिताकी है।

सेवासे मतलब उपयोगहीन सेवा नहीं है। उपयोगके साथ-साथ उपयोगी जानवरकी यथासंभव अधिक-से-अधिक सेवा करना ही उसका अर्थ है। उसका भाव यह है कि उपयोगी जानवरको हमें अधिकाधिक उपयोगी बनाना है और इसी तरह हम उसकी अधिक-से-अधिक सेवा कर सकते हैं, जैसाकि हम अपने

बाल-बच्चोंके विषयमें करते हैं। इस तरह हमारे लिए सेवाका उपयोगके साथ नित्य संबंध है। अब मैं जरा और आगे बढ़ूंगा। जैसे हम उपयोगहीन सेवा नहीं कर सकते, वैसे ही सेवा-हीन उपयोग भी हमें नहीं करना चाहिए। गो-सेवा-संघके नाममें 'सेवा' शब्दका यही अर्थ है। यानी हम बगैर सेवाके लाभ नहीं उठायेंगे। यह आज भी होता है। हम ढोरोंकी सेवा कुछ-न-कुछ तो करते ही हैं। लेकिन शास्त्रीय दृष्टिसे जितनी करनी चाहिए उतनी नहीं करते। क्योंकि शास्त्रीय दृष्टि हमारे पास नहीं है, विशेषज्ञोंसे इस काममें हम सहायता जरूर लेंगे। लेकिन हमें सब काम उनपर नहीं छोड़ना चाहिए। हमें गायकी प्रत्यक्ष सेवा करनी चाहिए। जब ऐसा होगा, तब उसमेंसे गो-सेवाका थोड़ा-बहुत शास्त्र हमारे हाथ आ जायेगा।

पवनारमें हमारे आश्रमके एक भाई, नामदेवने दो-चार गायें, पाली हैं। बाजारके लिए उसे एक दिन सेलू जाना पड़ा। शामको नामदेव वापस लौटा और गाय दुहनेके लिए बैठा, तो गायने दूध नहीं दिया। उसने काफी कोशिश की। तब उसने पूछा, "आज गायको क्या हो गया है?" जवाब मिला, "कुछ तो नहीं। पता नहीं दूध क्यों नहीं देती? बछड़ा भी तो बंधा हुआ था। इसलिए वह भी दूध नहीं पी सका होगा।" निदान नामदेवने पूछा, "किसीने उसे मारा-पीटा तो नहीं?" एक भाईने कहा, "हां मारा तो था।" नामदेवने कहा, "बस तो वह इसीलिए दूध नहीं देती।" फिर नामदेव गायके पास पहुंचा, उसने उसके शरीरपर हाथ फेरा, उसे पुचकारा। तब गाय कुछ देरके बाद दूध देनेके लिए तैयार हो गई। यह किस्सा इसलिए कहा कि हमें समझना चाहिए कि जब हम नामदेवकी तरह सेवा करेंगे, तो उसीमेंसे गो-सेवाका रहस्य धीरे-धीरे स्पष्ट हो जायेगा और गो-सेवाका शास्त्र बनेगा।

कालिदासने, जो कि हिंदू संस्कृतिका अप्रतिम प्रतिनिधि है, हमारे सामने उस सेवाका कितना सुन्दर आदर्श पेश किया है! महाराज दिलीप ऋषिके आश्रममें रहनेको आता है। ऋषि उसे गायकी सेवाका काम देते हैं, क्योंकि आश्रममें कोई बिना सेवाके रह ही नहीं सकता। आश्रम तो सेवाकी ही भूमि है। हां, तो वह गो-सेवाका काम कितनी लगनसे करता है? उसकी कैसी सेवा-

टहल करता है ? उसके पीछे-पीछे कैसे रहता है ?—इसका चित्र रघुवंशमें ८वें श्लोकमें यों खींचा है—

स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां,
निषेदुषीमासनबंधधीरः ।
जलाभिलाषी जलमाददानां,
छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत् ॥

शरीरकी छायाकी नाईं राजा गायका अनुचर बन गया था। जब वह गाय खड़ी होती थी, तब वह भी खड़ा हो जाता था। जब वह चलती तो वह भी चलता, वह बैठ जाती, तब वह बैठता, वह पानी पीती, तभी वह भी पानी पीता; गायको खिलाये-पिलाये बिना खुद नहीं खाता-पीता था।

गाय एक उदार प्राणी है। वह हमारी सेवा और प्रेमको पहचानती है और अधिक-से-अधिक लाभ देनेके लिए तैयार रहती है। 'सेवा' शब्दका दोहन करके मैंने यह दूध आपके सामने रख दिया है: एक तो हम बिना उपयोगके किसी की सेवा नहीं कर सकते; और दूसरे सेवा किये बिना यदि हम उपयोग करेंगे तो वह भी गुनाह होगा। हमें यह हरगिज नहीं करना है। ये दो बातें मैंने आपके सामने रक्खीं।

अब हम 'संघ' शब्दका मनन करेंगे।

क्या संघ' शब्दमें कोई विशेष दृष्टि नजर आती है? चरखेके लिए संघ, हरिजनोंके लिए संघ—इस तरह हमने कई संघ बनाये हैं। इसी तरह गो-सेवा-के लिए भी यह संघ बना है। इसके साथ-साथ और भी एक अर्थ इसमें लक्ष्य है। हिंदुस्तानकी भूमिकी और गायोंकी आज जो हालत है, उसे देखिए। संभवतः बिना साझेके यह काम आगे नहीं बढ़ सकेगा। शायद जगह-जगह इसे संघका स्वरूप देकर ही यह काम करना होगा। गो-सेवा-'संघ' शब्दसे इस तरहका भाव दोहन करके अगर हम निकालेंगे, तो उसमें एक गुण और मिल जायेगा। गो-सेवा कार्यमें साझेदारी या सांघिक प्रयत्नकी जितनी जरूरत है, उतनी और किसी कार्यमें शायद ही हो। हिंदुस्तानकी आजकी हालतमें हरएक किसान अपने-अपने घरमें गाय पाले, शास्त्रीय दृष्टिसे उसकी हिफाजत करे, यह बात

मुश्किल मालूम होती है। इसीलिए गांवोंमें सांघिक रचना करनी पड़ेगी। यह एक विशेष अर्थ 'गो-सेवा-संघ' शब्दसे निकल सकता है।

अब मैं और भी आगे बढ़ता हूं। गो-सेवा-सघके कार्यका आरम्भ प्रतिज्ञासे होता है। अभिप्राय यह है कि अगर हम गायके ही दूध-घीका सेवन करेंगे, तो उसकी सेवा करनेकी इच्छा पैदा होगी। इसलिए आरंभमें गायके ही दूध-घी-के सेवनकी प्रतिज्ञा रक्खी गई है। कई लोग पूछते हैं, "प्रतिज्ञाकी क्या जरूरत है? बिना प्रतिज्ञाके काम नहीं हो सकेगा?" उत्तरमें मैं अपना अनुभव बता दूं। मैंने देखा है कि जिस प्रयत्नका आरंभ संकल्पसे होता है वह जैसे फलता है, वैसे केवल मंशाका प्रयत्न नहीं फलता। कोई महान् कार्य संकल्पके बिना नहीं होता। अगर संकल्पसे आरंभ करते है, तो आधेसे अधिक कार्य वहीं हो जाता है। प्रतिज्ञा सिर्फ यही नहीं है कि घी-दूध खायेंगे या नहीं खायेंगे। गायके दूध-घीकी पैदाइश बढ़ानेकी कोशिश करेंगे, यही प्रतिज्ञाका मतलब है।

प्रतिज्ञा लेनेमें अक्सर यह आपत्ति उठाई जाती है कि हम दूसरोंके घर ऐसे नियम लेकर जायेंगे तो उनको तकलीफ़ होगी। इसीलिए इसका जवाब बापूने अपनी अहिंसाकी भाषामें दिया है। मैं अपनी 'अनादर' की भाषामें बताना चाहता हूं। इतना तकल्लुफ़ हमें क्यों रखना चाहिए। सूर्यको हम उसकी किरणोंसे जानते हैं। वह जहां जाता है, अपनी किरणें साथ ले जाता है, चाहे वे किसीको ताप दें, या आह्लाद दें; वह इस बातकी परवाह नहीं कर सकता। सूर्य अगर अपनी किरणोंको छोड़ता है, तो उसका सूर्यत्व ही जाता रहता है। वैसे ही हमें भी अपनी किरणोंको, यानी अपने उसूलोंको, अपने साथ ले जाना चाहिए। अगर मैं किसीके घरमें अपने सिद्धांतों और विचारोंको छोड़कर प्रवेश करूं तो मैं अपने मेरेपनको ही छोड़ देता हूं,—मैं 'मैं' ही नहीं रह जाता। अगर हम 'स्वत्व' छोड़कर किसीके घर जायेंगे, तो उसको आनंद होगा ऐसी बात नहीं है। इसलिए प्रतिज्ञा ज़रूर लेनी चाहिए और लोगोंकी कल्पित तकलीफ़ों के विषयमें निर्भय रहना चाहिए।

अब एक बात और। गाय और भैंस के विषयमें बहुत कुछ कहा गया है। दोनों मनुष्यको दूध देने वाले जानवर है। दोनोंमें कोई मौलिक विरोध तो नहीं होना चाहिए। फिर भी, हम गायका ही दूध बरतनेकी प्रतिज्ञा लेते हैं, तो उसका

तत्त्व हम लोगोंको जान लेना चाहिए। हिंदुस्तानका कृषि-देवता बैल है। और यह तो सब जानते ही हैं कि हिंदुस्तान कृषिप्रधान देश है। बैल तो हमें गायके द्वारा ही मिलता है। यही गायकी विशेपता है। उसके साथ-साथ गायकी अन्य उपयोगिता हम जितनी बढ़ा सकते हैं, जरूर बढ़ायेंगे। लेकिन उसका मुख्य उपयोग तो बैलकी जननीके नाते ही है। बिना बैलके हमारी खेती नहीं होती। इसलिए हमें गायकी तरफ विशेष ध्यान देना चाहिए और उसकी सार-संभाल करनी चाहिए। ऐसा अगर हम नहीं करते, तो हिदुस्तानकी खेतीका भारी नुकसान करते है। जब हम इस दृष्टिसे सोचते हैं, तो भैसका मामला सुलझ जाता है। और यह सहज ही समझमें आ जाता है कि गायको ही प्रोत्साहन देना हमारा प्रथम कर्त्तव्य क्योंकर हो जाता है।

मुझे याद आता है एक दफा मेरे एक मित्रने उनके प्रांतमें अकालके समय जानवर किस क्रमसे मरे, उसका हाल सुनाया था। उन्होंने कहा, सबसे पहले भैसा मरता है। क्योंकि हम भैसेकी उपेक्षा करके उसे मार डालते या मरने देते हैं। वर्धाके बाजारमें भैंसें ऐसी अवस्थामें लाई जाती हैं जब कि वे एक-दो घंटों में ही ब्यानेको होती हैं। हेतु यह होता है कि लोग उसे तुरंत खरीद लें। एक बार एक आदमी ऐसी एक भैंस बाजारको ला रहा था। उसी समय मनोहर-जीने, जो कि उन दिनों येलीकेलीमें महारोगीसेवा मंडल-द्वारा महारोगियोंकी सेवा करते थे, उसको देखा। रास्तेमें ही वह भैस ब्यायी—पुत्र जन्म हो गया! लेकिन उस आदमी को उस पुत्रजन्मसे बड़ी झुंझलाहट हुई! उसने सोचा, यह पुत्र कैसा? यह तो एक बला आ गई! मनुष्यको तो पुत्र-जन्मसे आनन्द होता है; लेकिन भैंसके पुत्रको वह सहन नहीं करता। उसने उस पुत्रको वहीं छोड़ दिया और भैस-को लेजाकर वर्धाके बाजारमें बेच दिया और जो कुछ पैसा मिला वह लेकर अपने घर चलता बना, बेचारा भैंस-पुत्र वहीं पड़ा रहा। मनोहरजी बेचारे दयालु ठहरे। फिक्रमें पड़े कि अब इसका क्या किया जावे? जिस खेतमें वह रहते थ उस खेतके मालिकके पास गये और उससे कहा, भैया, "इसको सम्हा-लोगे?" मालिकने कहा, "यह क्या बला आ गई? मैं उसको कैसे रखूं? आखिर उसका उपयोग ही क्या है? मै उसकी परवरिश क्यों करूं? उसको

ाखिर दशहरेके दिन क़त्ल होनेके लिए ही बेचना होगा। इसके सिवा और सरा कोई रास्ता नहीं है।"

मैंने यह एक नित्यकी घटना आपके सामने रखी। तो, सबसे पहले बेचारा भैंसा मरता है। फिर उसके बाद गाय मरती है। उसके पश्चात् भैंस मरती है और सबसे आखिरमें बैल। बैल सबसे उपयोगी है और इसीलिए उसकी हिफ़ाज़त करनेकी विशेष कोशिश की जाती है। लोग किसी-न-किसी तरह उसको खिलाते रहते हैं और उसे जिलानेकी कोशिश करते हैं। यह तो हुई उपयोगिताकी बात। बैल इन सब जानवरोंमें सबसे ज्यादा उपयोगी तो साबित हुआ। लेकिन सवाल यह है कि गायकी सेवाके बिना अच्छे बैल कहांसे आयेंगे? हिंदुस्तानका आदमी बैल तो चाहता है; लेकिन गायकी सेवा करना नहीं चाहता। वह उसे धार्मिक दृष्टिसे पूजनेका स्वांग रचता है। दूधके लिए तो भैंसकी ही कद्र करता है। हिंदुस्तानके लोगोंकी यह मंशा है कि उनकी माता तो रहे भैंस और बाप हो बैल! यह योजना तो ठीक है; लेकिन वह भगवान्‌को मंजूर नहीं है! इसलिए यह मामला बहुत टेढ़ा हो गया है। भैंस और गाय दोनोंका पालन हिंदुस्तान के लिए आज बड़ी मुश्किल बात हो गई है।

लेकिन हमें यह समझ लेना चाहिए कि गो-सेवामें गायकी ही सेवाको महत्त्व देना पड़ता है। बापूने कहा कि अगर हम गायको बचा लेंगे, तो भैंस-का भी मामला तय हो जायगा। इसका पूर्ण दर्शन तो अभी मुझे भी नहीं हुआ है और शायद उसकी कभी जरूरत भी नहीं है।

गाय और भैंसको एक-दूसरेकी विरोधी माननेकी जरूरत नहीं है। लेकिन हमें तो गो-सेवासे आरंभ कर देना है और वही हो भी सकता है। हमें समझना चाहिए कि आज हम दरअसल भैंसकी सेवा भी नहीं करते। आज हम जो भैंसकी सेवा करते हैं, वह दरअसल न तो गो-सेवा है और न भैंसकी सेवा ही है। हम उसमें केवल अपना स्वार्थ देखते हैं। हम भैंसका केवल सेवाहीन उपयोग करते हैं। जिस प्रकार उपयोग-हीन सेवा हम नहीं कर सकते, उसी प्रकार सेवा-हीन उपयोग भी हमें नहीं करना है।

जैसा कि मै बता चुका हूं, आज भैंसेकी हर तरहसे उपेक्षा की जाती है।

वस्तुस्थिति यह है कि हिंदुस्तानके कुछ भागोंमें भैसेका उपयोग भले ही किया जाता हो, लेकिन साधारणतः हिंदुस्तानकी गरम हवा में भैंसा ज्यादा उपयोगी नहीं हो सकता, भैंसका हम केवल लोभसे पालन कर रहे हैं। नागपुर-बरारमें गर्मियोंमें गर्मीका मान एकसौ पंद्रह अंश तक चला जाता है। खासकर उन दिनोंमें भैंसको पानी जरूर चाहिए। मगर यहां तो पानीकी कमी है। पानीके बगैर उसको बेहद तकलीफ होती है। क्योंकि भैंस पूरी तरह जमीनका जानवर नहीं है। वह आधा जमीनका और आधा पानीका प्राणी है। गाय तो पूरी तरह थलचर है। और अक्सर देखा जाता है कि जो पानीवाला जानवर हो, उसके शरीरमे भगवान्ने चरबीकी अधिकता रखी है। क्योंकि ठंड और पानीसे बचनेके लिए उसकी उसे जरूरत होती है। मछलीके शरीरमें स्नेह भरा हुआ रहता है। पानीके बाहर निकालते ही वह सूर्यके तापसे जल जाती है। वैसी ही कुछ-कुछ हालत भैंसकी भी है। उसे धूप बरदाश्त नहीं होती। इसीलिए लोग गर्मीके दिनोंमें ।उसीके मलमूत्रका उसकी पीठपर लेप करते हैं, ताकि कुछ ठंडक रहे। वे जानते हैं कि उस जानवरको उस समय कितनी तकलीफ होती है। देहातोंमें जाकर आप लोगोंसे पूछेंगे कि आपके गांवमे कितनी भैंसें और कितने पाड़े है, तो वे कहेंगे कि भैंसें हैं करीब सौ-डेढ़सौ और पाड़े हैं कुल दस, या बहुत तो बीस। अगर हम उनसे पूछेंगे कि इन स्त्री-पुरुषों या नर-मादाओंकी संख्यामें इतनी विषमता क्यों है? तो हमारे देहातोंके लोग जवाब देंगे, 'क्या करें? भगवान्की करतूत ही ऐसी है कि भैंसा ज्यादा दिन जीता ही नहीं'। आखिर यहां भी भगवान्की करतूत आ ही गई! यह हमारे बुद्धिनाशका लक्षण है। हम उसकी तकलीफका ध्यान न करते हुए भैंसका उपयोग करते हैं, कि भैसे जिंदा ही नहीं रहते और नहीं रहेंगे। मतलब, हम भैंसकी सेवा करते हैं, ऐसी बात नहीं है। उसमें हम सिर्फ भैंसका उपयोग ही करते हैं। बाकी उसकी सेवा कुछ भी नहीं करते। इसलिए आपकी समझमें आगया होगा कि सेवा-संघकी स्थापना हम किसलिए करते हैं। ••

चंद लोग पूछते हैं, "हिंदुस्तान एक कृषि-प्रधान देश है, इसलिए खेतीके वास्ते बैल चाहिए और बैल चाहिए तो गाय भी चाहिए; इत्यादि विचार-

श्रेणी तो ठीक है; मगर क्या हिंदुस्तानका यही एक अर्थशास्त्र हो सकता है ? क्या दूसरा कोई अर्थशास्त्र ही नहीं हो सकता ? समय आनेपर हम खेतीका काम ट्रैक्टरसे क्यों न करें ?"

उसके जवाबमें मैं यह पूछता हूं कि ट्रैक्टर चलायेंगे तो बैलका क्या होगा ? जवाब मिलता है, "बैलको हिंदुस्तानके लोग खा जायें। हिन्दुस्तानके लोग दूसरे कई जानवरोंका मांस बराबर खाते है; उसी तरह बैलका मांस भी खा सकते हैं। यह रास्ता क्यों न लिया जाये ?" इस तरह जब बैलोंको खा जानेकी व्यवस्था होगी, तभी ट्रैक्टर द्वारा जमीन जोतनेकी योजना हो सकती है। कहा जाता है कि बैलोंको अगर हिंदू नहीं खायेंगे, तो गैर-हिंदू खायें। आज भी हिंदू गायको बेचते ही हैं। खुद तो कसाईसे पैसा ले लेते हैं और गो-हत्याका पाप उसे दे देते हैं। ऐसी सुंदर आर्थिक व्यवस्था उन्होंने अपने लिए बना ली है। वह कहता है कि अगर मैं कसाईको गाय मुफ्तमें देता, तो गो-हत्याके पापका भागी होता। लेकिन मैं तो उसे बेच देता हूं। इसलिए पापका हिस्सेदार नहीं बनता, उस व्यवस्थाको आगे बढ़ायेंगे, तो सब ठीक हो जायेगा। हम भैंससे दूध लेंगे बैलोंको खा जायेंगे और यंत्रोंके द्वारा खेती करेंगे—इस तरह तीनोंका सवाल, हल हो जायेगा।

इसके जवाबमें मैं आप लोगोंको यह समझाना चाहता हूं कि बैलोंको क्यों नहीं खाना चाहिए ? पूर्वपक्षकी दलील यह है कि कुछ प्रेज्युडिस्ड लोग यानी पर्वग्रह दूषित लोग बैलको भले ही न खायें; लेकिन बाकीके तो खायेंगे और हम यंत्रके द्वारा मजेमें खेती करेंगे। इस विषयमें हमारे विचार साफ होने चाहिए। मैं मानता हू कि हिंदुस्तानकी आजकी जो हालत है और आगे उसकी जो हालत होनेवाली है, उस हालतमें अगर हम मांसका प्रचार करेंगे और यंत्रसे खेती करेंगे, तो हिंदुस्तान और हम जिंदा नहीं रह सकेंगे। यह समझनेकी जरूरत है। हिंदुस्तानके लोग भी अगर गाय-बैल खाने लगेंगे, तो कितने प्राणियोंकी जरूरत होगी ? उतने बैलोंकी पैदाइश हम यहां नहीं कर सकेंगे। सिर्फ मांस, या गोश्त खानेका ढोंग तो नहीं करना है। मांस अगर खाना है तो वह हमारे भोजनका नियमित हिस्सा होना चाहिए। तभी तो उससे अपेक्षित

लाभ होगा। लेकिन हम जानते हैं कि लोग खा सकें इतने बैल पैदा नहीं हो सकेंगे। अगर हम इस तरह करने लगें और खेती ट्रैक्टरके द्वारा होने लगी, तो ट्रैक्टरका खर्च बढ़ेगा और गोश्त भी पूरा नहीं पड़ेगा और आखिरमें गाय और बैलका वंश ही नष्ट हो जायगा और उसके साथ मनुष्य भी।

यूरोप और अमेरिकाकी क्या स्थिति है ? दक्षिण अमेरिकाके अर्जेंटाइनके बंदरगाह ब्यूनॉस-आयरिसमें रोज करीब-करीब दस हजार बैल कटते हैं, और वहांसे गोश्तके पीपे दूर-दूरके देशोंको भेजे जाते हैं। अब तो यह व्यवस्था यूरोपके कामकी नहीं रही। लेकिन वैसे भी अगर यह सिलसिला जारी रहा, तो आगे चलकर लोगोंको गोश्त मिलना कठिन हो जायेगा, इसलिए यूरोपके डॉक्टरोंने अब यह शोध की है और बहुत सोच-विचारकर निर्णय किया है—संभव है उसमें मतभेद होगा, क्योंकि डॉक्टरोंमें मतभेद तो हुआ ही करता है—कि गोश्त-के मुकाबिलेमें दूधमें गुण अधिक है। यह शोध हमारे आयुर्वेदिक वैद्यों और हकीमोंने, बहुत पहले किया है। मैं मानता हूं कि आज यूरोपके लोग जिस तरह मांसाहार करते हैं, उसी तरह हिंदुस्तानके लोग भी पुराने जमानेमें मांसाहार करते थे। आखिर वे इस नतीजेपर पहुंचे कि अगर हम मांसके बजाय दूधका व्यवहार करेंगे, तो हम भी जिंदा रहेंगे और जानवर भी जिंदा रहेंगे। इसलिए ट्रैक्टरका उपयोग हमारा सवाल हल नहीं कर सकता और हमें यह समझना चाहिए कि गोश्तके बजाय दूधपर भरोसा रखना सब तरहसे लाजिमी होगा।

मेरी यह भविष्यवाणी है कि जैसे-जैसे जनसंख्या बढ़ती जायेगी, वैसे-वैसे दुनिया भरमें गोश्तकी महिमा कम होगी और दूधकी बढ़ेगी। पूछा जाता है कि 'आखिर दूध भी तो प्राणिजन्य वस्तु ही है ?' हां है तो सही, 'फिर दूधको पवित्र क्यों माना गया ?' उसका जवाब अभी मैंने जो कुछ कहा, उसीमें मिल सकता है। जैसा कि अभी मैंने कहा, एक समय था जब कि हिंदुस्तानमें मांसाहार ही चलता था। उस वक्त उसमेंसे बचनेके लिए क्या किया जाये, यह सवाल उत्पन्न हुआ। योगियों और वैद्योंने जब लोगोंके सामने गायके दूधकी महिमा रक्खी, तबसे दूध ऐसी चीज हो गई जिसने लोगोंको मांसाहारसे छुड़ाया। इसलिए दूध पवित्र माना गया। इसके सबूत आपको वेदोंमें मिल सकते हैं। ऋग्वेदमें

गोभिष्टरेम अमतिं दुरेवां,
यवेन क्षुधं पुरुहूत विश्वाम् ।

यह वचन पाया जाता है । इस मंत्रका अर्थ मैंने इस तरह किया है—'भूखको तो हम अन्नके द्वारा मिटा सकते हैं । लेकिन 'दुरेवा अमति' का यानी दुर्भाग्यमें ले जानेवाली अबुद्धिका, अर्थात् गोश्तकी तरफ ले जानेवाली अबुद्धिका, गायके दूधके द्वारा ही हम निवारण कर सकते हैं ।' सब तरहकी अबुद्धि मिटानेके लिए और उसमेंसे जहर निकलनेके लिए गायका दूध हमारे काम आता है । इसीलिए गायका दूध पवित्र माना गया है । मतलब यह कि कुल मिलाकर यंत्रवादी जो ट्रैक्टरपर आधार रखनेकी बात कहते हैं, वह गलत है ।[1]

(सर्वोदय : मार्च, १९४२)

: १४ :

जीवित मृत्यु

कल शामको चार बजे महिलाश्रममें मेरा व्याख्यान था । उस व्याख्यानके लिए मैं वहां पहुंचा । बहनें आ बैठीं । मैं अपना व्याख्यान शुरू करनेवाला था कि इतनेमें मोटर आई । संदेश मिला कि जमनालालजी बीमार हैं । मुझे बुलाया है । जमनालालजी ऐसे खास बीमार तो थे ही नहीं; सदाकी भांति वे दोपहरतक अपना काम करते रहे थे इसलिए उनकी बीमारीकी गंभीरता मैं न समझ सका । किंतु व्याख्यान छोड़कर मैं गांधी-चौक पहुंचा । गाड़ीसे उतरते ही दिलीप ऊपरसे नीचे आये । उनके चेहरेपर दुःखकी छाया थी, परंतु फिर भी मैं पूरी कल्पना नहीं कर सका । स्वास्थ्यके बारेमें पूछनेपर उन्होंने कहा—"वह तो गये ।"

ऐसी अनपेक्षित दुःखदाई, चित्तको हिला देनेवाली खबर सुनकर मुझे क्या

---

[1] **गोसेवा-संघके सम्मेलनके अवसरपर (१ फरवरी, १९४२ को) अध्यक्ष-पदसे दिया गया भाषण ।**

महसूस हुआ होगा यह आप समझ सकते हैं। खबर तो क्लेशदायी थी, परंतु मुझे अपने भीतर एक आनंदका आभास हुआ। मनकी उसी अवस्थामें मै उनके कमरेमें गया। वहां जो लोग बैठे थे उन सबके चेहरेपर जब मैंने दुःखकी छाया देखी तो मैंने महसूस किया कि घटना ऐसी ही हुई है जिससे कइयोंको दुःख हो सकता है। फिर भी मुझे मानना चाहिए कि मेरी आनंदकी भावनामें कमी नहीं हुई व अग्निदाहपर गीता व उपनिषदोंका पाठ करते समय आनंदकी उस भावनाकी सीमा नहीं रही।

मेरी यह अवस्था रातभर ऐसी ही रही। प्रातः उठनेपर जमनालालजीके चले जानेसे हम लोगोंकी जो क्षति हुई व हमपर जो जिम्मेदारी आ पड़ी उसकी भी पूरी कल्पना हुई। आगेका सब हाल आप समझ सकते हैं।

परंतु मेरी खुशीका कारण मुझे आपको जताना होगा। जेलमें मुझे मालूम हुआ था कि जमनालालजीने गो-सेवाके कामकी जिम्मेदारी ली है। मुझे संतोष हुआ था। यह कार्य जमनालालजीने उठाया, तो देशको इससे लाभ तो होगा ही, उनके चित्तको भी शांति मिलेगी, लेकिन उनके थके हुई शरीरके लिए यह काम बहुत ज्यादा होगा, ऐसा मेरा खयाल था। जेलसे छूटनेपर उन्होंने इस नये कामके बारेमें मेरी राय पूछी। मैंने अपना संतोष व्यक्त किया। उनकी आंखोंमें आंसू चमके। तबसे आजतक इन दो महीनोंमें मैंने देखा कि वह खुश थे, उनके चित्तमें प्रसन्नता थी, इसलिए कि उन्हें एक पवित्र तथा आत्मोन्नतिमें सहायता देनेका कार्य मिला और जब वे चल बसे, तब उनकी मानसिक अवस्था जितनी अच्छी थी, उतनी उनके पिछले बीस वर्षोंमें कभी नहीं थी। पिछले बीस वर्षोंसे उन्हें सूक्ष्म आत्मनिरीक्षणकी आदत थी। परंतु मनकी जो उन्नत अवस्था वे अबतक प्राप्त न कर सके थे वह इन दो-तीन महीनोंमें उन्होंने बड़ी तेजीसे हासिल कर ली थी। अबकी बार ही मैं देख सका कि जमनालालजीके दिलमें देह-भावका अवशेष भी नहीं रहा था, केवल सेवा-ही-सेवा रही। इससे अच्छी मृत्यु और क्या हो सकती है? अंतिम समयपर सेवा करते रहनेपर मृत्युका प्राप्त होना कितने भाग्यकी बात है! इसलिए इस दुःखदायी घटनामें भी जो सुखदायी बात छिपी हुई है, वह आपके सामने रखनेकी मेरी इच्छा हुई। हमें भी ऐसी मृत्युकी परमेश्वरसे

याचना करनी चाहिए ।

तुलसीदासने रामायणमें राम-बाली-संवाद दिया है। भगवान् रामका बाण लगनेपर बालीने रामको उलहना दिया । तब वे कहते है "ओ मेरे प्यारे बालक, मैंने तो तुझपर बाण नहीं, प्रेम बरसाया है । अगर तुम चाहो तो मैं तुम्हें जिंदा रख सकता हूं । बालीने उस समय जो जवाब दिया वह मननीय है। उसने कहा, "आज तो आपके दर्शन भी मिले और मृत्यु भी । आगे जब मृत्यु मिलेगी तब आपका दर्शन मिलेगा यह कौन बता सकता है ? इसलिए मैं अभी मरना ही पसंद करता हूं । जब आपके दर्शन हो रहे हैं तभी मृत्युका आलिंगन करना मैं अपना भाग्य समझता हूं ।" इतना कहकर बाली मुक्त हो गये । उन की आत्मा राममय हो गई । चित्तका शोधन करते-करते उच्च अवस्था प्राप्त करनी चाहिए और उसी हालतमें देह छोड़नी चाहिए । मेरा विश्वास है कि जमनालालजीको भी ऐसी ही मृत्यु प्राप्त हुई है । इसलिए यह दुःखकी बात नहीं, खुशी और ईर्ष्याकी बात है ।

हम उनके अनेक गुणोंका वर्णन करसकते है । उनका सबसे बड़ा गुण यह था कि सेवा करते समय वे अपनी सेवाका हिसाब तो रखते ही थे, परंतु इस सेवाका मापन मुख्यत: अपने हृदयकी परीक्षा लेकर ही करते थे । उनका विश्वास था कि जिस सेवाका परिणाम चित्त-शुद्धिके रूपमें होता हो वही सेवा सच्ची है । जितनी मात्रामे यह परिणाम कम दिखाई देगा उतनी ही वह सेवा अधूरी व जिस सेवासे चित्त-शुद्धि बिलकुल ही नहीं होती हो वह झूठी। वे हर प्रकारकी सेवाको चित्त-शुद्धिकी कसौटीपर कसा करते थे और चित्त-शुद्धिकी कसौटीको ही वह सेवाकी कसौटी मानते थे । मनकी ऐसी पवित्र अवस्थामें जो जीव शरीर छोड़कर चला जाता है वह जाता ही नहीं बल्कि छोटासा शरीर त्यागकर समाज रूपी व्यापक देहमें प्रवेश करता है । शरीर आत्माके विकासके लिए है; परंतु जिनकी आत्मा महान् है उनके विकासके लिए मानव-देह छोटा-सा पड़ता है । ऐसे समय वह महान् आत्माएं कभी-कभी अपने दुर्बल शरीरको छोड़ जाती हैं व देहरहित अवस्थामें अधिक सेवा करती हैं। जमनालालजीकी यही स्थिति है। आपके व हमारे शरीरमें उन्होंने प्रवेश किया है, ऐसा मैं तो मानता हूं । इसका असर हम सबपर

होगा ही, परंतु हमें अपने हृदयके द्वार खुले रखना चाहिए। एक छोटी-सी मिसाल उनकी पत्नीकी मैं दूं। वह एक सीधी-सादी देवी हैं, विशेष पढ़ी-लिखी भी तो नहीं हैं, परंतु जमनालालजीकी मृत्युने उन्हें अपना जीवन सेवा-कार्यमें समर्पण करनेकी प्रेरणा दी। अपनी सारी निजी संपत्ति भी देश-कार्यके ही लिए समर्पण करनेका संकल्प उन्होंने किया। जमनालालजीकी मृत्युका यह परिणाम हुआ। सदेह आत्मा जितना असर नहीं कर पाती उतना या उससे कितना ही अधिक विदेह (यानी देह बिना) आत्माने किया। यह एक ऐसी ही मिसाल है। भविष्यमें ऐसे और भी उदाहरण हो सकते हैं क्योंकि महान् विभूतियां देह छोड़नेपर ही अधिक बलवान बनती हैं। संतोंके उदाहरण हमारे सम्मुख हैं ही। उनके जीवन-कालमें समाजने उनका आदर करनेके बजाय छल ही किया। देह जानेके बाद देह बिना रहकर ही वे लोगोंके चित्तपर अधिक प्रभावशाली परिणाम अंकित कर सके। ऐसे संतोंमें छोटा-सा ही क्यों न हो जमनालालजीका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसलिए उन्होंने जिस प्रकार अपनी सारी ताकत लगाकर जो सेवा-कार्य किया, उससे भी अधिक शक्तिसे वह कार्य आगे बढ़ाते रहने की प्रेरणा ईश-कृपासे हमें मिल सकती है। यह प्रेरणा ग्रहण करनेके लिए हमारे हृदय-द्वार खुले रहें, इतनी ही प्रार्थना परमात्मासे कर मैं अपनी श्रद्धांजलि समाप्त करता हूँ।[1]
(सर्वोदयः मार्च, १९४२)

: १५ :

खादीका समग्र-दर्शन

जेलमें तटस्थ चिंतनके लिए थोड़ा-बहुत अवकाश मिल जाता है। इसलिए हमारे आंदोलनके विषयमें और हिंदुस्तान तथा संसारकी सारी परिस्थितिके विषयमें बहुत-कुछ विचार हुआ, चर्चा भी हुई। कुल मिलाकर परिस्थिति बहुत बिगड़ी हुई मालूम होती थी। ऐसे समय कौन-से उपाय करने चाहिएं, इसका चिंतन

[1] श्री० जमनालाल बजाजके निधनपर हुई शोक सभा में (१२ फरवरी, १९४२ को) दिया गया भाषण।

हम वहां करते थे । लेकिन हमारे जेलसे छूटनेके थोड़े ही दिन बाद जापान और अमेरिकाके लड़ाईमें शामिल हो जानेसे परिस्थिति और भी बिगड़ गई । इसलिए जेलमें किये हुए कुछ विचार अधूरे मालूम हुए और कुछ दृढ़ हुए । इस युद्धके विरोधमें हम प्राय: तीन कारण दिया करते थे : पहला कारण था युद्धकी हिंसकता, दूसरा दोनों पक्षोंकी—चाहे वह न्यूनाधिक भले ही हो—साम्राज्यवादी तृष्णा; और तीसरा यह कि हिंदुस्तानकी सम्मति नहीं ली गई । लेकिन जापान और अमेरिकाके मैदानमें कूद पड़नेके बाद तो अब करीब-करीब सारा संसार ही युद्धमें शामिल हो गया है । अब यह युद्ध मनुष्यके हाथमें नहीं रहा; वरन् मनुष्य ही युद्धके आधीन हो गया है । इसलिए यह युद्ध स्वैर या मूढ़ है । हमारे युद्धविरोध का यह और एक नया कारण है । वासुदेव कॉलेज (वर्धा) में भाषण देते हुए मैंने इसीपर जोर दिया था ।

लेकिन इस प्रकार संसारके सभी बड़े राष्ट्रोंके युद्धमें शरीक हो जानेसे, हिन्दुस्तानकी, जो कि पहलेसे ही एक दरिद्र और विषम परिस्थितिमें ग्रस्त देश है, हालत और भी विषम हो गई है । अंग्रेजी राजसे पहले हिंदुस्तान स्वावलंबी था । इतना ही नहीं, वह अपनी जरूरतें पूरी करके विदेशोंको भी थोड़ा-बहुत माल भेजा करता था । लेकिन आज तो पक्के मालके लिए हिंदुस्तान करीब-करीब पूरी तरह परावलंबी हो गया है । राष्ट्रीय रक्षाके साधन, युद्धविषयक सरंजाम, वगैरामें जो परावलम्बन है, उसकी बात मैं नहीं कहता । हालांकि अगर अहिंसाका रास्ता खुला न हो, तो राष्ट्रीय दृष्टिसे इस बातका विचार भी करना ही पड़ता है । लेकिन मैं तो सिर्फ जीवनोपयोगी नित्य आवश्यकताओंकी ही बात कह रहा हूं । ये चीजें आज हिंदुस्तानमें नहीं बनतीं और फिलहाल वे बाहरसे कम आ सकेंगी । लड़नेवाले राष्ट्र युद्धोपयोगी सामग्री बनानेकी ही फिक्रमें होंगे; उनके पास बाहर भेजनेके लिए बहुत कम माल रहेगा । और इसके बाद भी जो माल तैयार होगा, उसे दूसरे राष्ट्रोंतक न पहुंचने देनेकी व्यवस्था शत्रुराष्ट्र अवश्य करेंगे । अमेरिकासे माल आने लगे, तो जापान उसे डुबो देगा और जापानसे तो माल आ ही नहीं सकेगा । इस तरह अगर बाहर से माल आना कम हो गया या बन्द हो गया, तो हिंदुस्तानका हाल

बहुत ही बुरा होगा। पक्का माल यहां बनानेके विषयमें सरकार, अगर हेतु-पूर्वक नहीं तो परिस्थितिके कारण उदासीन रहेगी। उसका सारा ध्यान लड़ाईपर केन्द्रित है, इसलिए उसे दूसरी गंभीर योजनाएं नहीं सूझेंगी। गंभीरतासे जो कुछ विचार होगा, वह केवल युद्ध के विषयमें ही होगा। अगर सरकारकी यही वृत्ति रही कि हिंदुस्तानका जैसे-तैसे रक्षण—यानी उसे अंगरेजोंके कब्जेमें बनाये रखना—भर हमारा कर्तव्य है, तो कोई ताज्जुब नहीं।

ऐसी अवस्था में हम कार्यकर्ताओंपर बहुत बड़ी जिम्मेदारी आ पड़ती है। उस दिन दादा धर्माधिकारी मेरे पास आये थे। उनसे मैंने अपनी इस दशाका जिक्र किया था। उसके विषयमें उन्होंने 'सर्वोदय' में एक टिप्पणी लिखी है। यों लोगोंपर यह इलजाम लगाया जाता था कि खादी की बिक्री काफी नहीं होती, उसके लिए लोगोंकी मिन्नतें करनी पड़ती हैं। अब हमपर यह इलजाम आनेवाला है कि इस लड़ाईकी परिस्थतिमें लोगोंकी मांग हम पूरी नहीं कर सकते। ऐसे संकटके समय अगर हम खादीके कामको तरक्की न दे सकें, तो खादी के भविष्यके लिए बहुत कम आशा की गुंजाइश रहेगी।

जाजूजीने 'खादी जगत्' द्वारा हाल हीमें एक योजना पेश की है। उसमें उन्होंने यह प्रमाणित किया है कि सरकार बेकारोंको जितने उद्योग दे सकती है, उतने अवश्य दे; लेकिन सरकारकी शक्ति खतम होनेपर भी अगर भूख बाकी रह जाय, तो उतने अंशमें खादीको प्रोत्साहन देना सरकारका कर्तव्य है। किसी भी सरकारको खादीका यह कार्यक्षेत्र प्रायः मंजर करना पड़ेगा।

लेकिन इस योजनाका स्वरूप तो ऐसा है कि मानो जहां हम प्रवेश नहीं पा सकते, वहां धीरे-से अपनी पोटली रख देते हैं। हमारे घरपर कब्जा करनेवालेसे हम कहते हैं, "भैया, मकान तेरा ही सही। लेकिन तेरा यह खयाल गलत है कि मकान बिलकुल भर गया है। वह देखो, उस कोनेमें थोड़ी-सी जगह खाली है। मेरी यह पोटली वहां पड़ी रहने दो।" हमारा यह आक्रमण मनुष्यसे अपेक्षित न्यूनतम सद्गुणोंपर होता है, इसलिए उसका परिणाम अवश्य होता ही है।

परंतु इस प्रकारकी अकाल-पीड़ित खादी खादीकी बुनियाद नहीं हो सकती। आज जिस तरह खादीका उत्पादन और बिक्री हो रही है, वह भी उसकी बुनि-

याद नहीं है। खादीकी इमारतका वह एक भाग जरूर है। खादीकी अंतिम योजनामें भी उत्पत्ति-बिक्रीका स्थान रहेगा; और आजसे कहीं अधिक रहेगा। लेकिन वह खादीकी सम्पूर्ण योजनाका एक अंग मात्र है।

उसी तरह आज जगह-जगह जो वस्त्र-स्वावलंबन जारी है उससे, यानी इस गांवमें चार वस्त्र-स्वावलंबी आदमी हैं, उस तहसीलमें सौ-दो-सौ हैं, इसी प्रकार दूसरे गांवोंमें भी वस्त्र-स्वावलंबन शुरू करते रहने से, भी हमारा मुख्य काम नहीं होता। यह तो चौराहोंपर जगह-जगह म्युनिसिपैलिटीकी बत्तियां लगानेके समान है। इन बत्तियोंका भी उपयोग तो है ही। उनके कारण चारों तरफका वातावरण प्रकाशित रहेगा। लेकिन चौककी बत्तियां घरके चिरागोंका काम नहीं देतीं। इसलिए यह इस तरह बिखरा हुआ वस्त्र-स्वावलंबन भी खादी का मुख्य कार्य नहीं है।

खादीकी नींव तो यह है कि किसान जैसे अपने खेतमें अनाज उपजाता है, उसी तरह वह अपना कपड़ा अपने घरमें बनावे। शायद शुरूसे ही हम इस तरह काम न कर सकते। इसलिए हमने खादीका काम दूसरे ढंगसे शुरू किया। लेकिन यह भी अच्छा ही हुआ। इससे खादीको गति मिली और लोगोंको थोड़ी-बहुत खादी हम दे सके।

लेकिन अब तो लोगोंकी खादीकी मांग बढ़ेगी। आजके तरीकेसे हम उसे पूरा नहीं कर सकेंगे। ऐसी स्थितिमें अगर हम लाचार होकर चुपचाप बैठे रहेंगे, तो हम दोषी समझे जायेंगे। और यह दोषारोपण न्यायानुकूल ही होगा। क्योंकि खादीको बीस सालका समय मिल चुका है। हिटलरने बीस वर्षोंमें एक गिरे हुए राष्ट्रको खड़ा कर दिया। उन्नीस सौ अठारहमें जर्मनीकी पूरी तरह हार हो गई थी और उन्नीस सौ अड़तीस में वह एक आला दर्जेका राष्ट्र बन गया। रूसने भी जो कुछ ताकत कमाई, वह इन बीस बरसोंमें ही कमाई। इतने समयमें उसने दुनियाको मुग्ध कर देनेवाली विचार और आचारकी एक प्रणालीका निर्माण किया। ये दोनों प्रयोग हिंसामय या हिंसाश्रित हैं, इसलिए उनकी स्थिरता खतरेमें है, यह बात अलग है। कहा तो यही जायगा कि खादी-को भी इसी प्रकार बीस वर्षतक मौका दिया गया। इतने समयमें खादी अधिक

प्रगति नहीं कर सकी, इसकी कई वजहें हैं । इसलिए जर्मनी या रूससे तुलना करके हमें अपने तईं अपना धिक्कार करनेकी जरूरत नहीं है । फिर भी ऐसे संकटके मौकेपर अगर हम लाचार बन गये, तो, जैसा कि मैं कह चुका हूं, खादीके लिए एक कोना दिखाकर उतनेसे संतुष्ट रहना पड़ेगा । लेकिन यह खादीकी मुख्य दृष्टि—जिसे अहिंसाकी योजनामें करीब-करीब केन्द्रस्थान है—छोड़ देनेके समान है । कम-से-कम हिन्दुस्तानमें तो खादी और अहिंसाका गठ-बंधन अटूट समझना चाहिए ।

जब लोगोंकी मांग बढ़ेगी तो हम उनसे कहेंगे, 'सूत कातो ।' तब लोग कहेंगे, 'हमें पूनियां दो ।' हमारे आंदोलनमें पूनियोंकी समस्या बड़ी टेढ़ी है । पूनियोंके बादकी क्रिया अपेक्षाकृत सरल है । लेकिन पूनियोंका सवाल हम शास्त्रीय या लौकिक पद्धतिसे अबतक हल नहीं कर सके हैं । तब, लोगोंसे कहना होगा, 'तुम अपने लिए धुनो ।' इसमें तांतका सवाल आयेगा । पक्की तांतकी व्यापक मांग एकदम पूरी नहीं की जा सकती । इसलिए काम रुक जायगा । इसका ज्यों-ज्यों मैं विचार करता हूं त्यों-त्यों मेरी निगाह उस 'दशयंत्र पींजन'पर ठहरती है । पांच और पांच दस अंगुलियोंसे जो काम होता है, उसे 'दशयंत्र' कहते हैं । सोम रस दस अंगुलियोंसे निचोड़ा जाता है । इसलिए वेदोंमें 'दशयंत्राः सोमाः' का उल्लेख है । उसी तरह यह तुनाईका दशयंत्रपींजन है । वह बहुत लाभदायी और सारी दिक्कतोंसे बचानेवाला साबित होगा । रबर लगानेके नये तरीकेकी खोज ने इस दशयंत्र-पींजनमें क्रांति कर दी है । उसके कारण यह काम आसान हो गया है । यह बात सच है कि रबर सर्वसुलभ नहीं है । लेकिन उसका भी विचार हो सकता है । और वह भी इस कामके लिए अनिवार्य तो नहीं है । उस दिन मैं खरांगना गया था । वहां मैंने इस दशयंत्र-पींजनका प्रदर्शन किया । दर्शकोंमेंसे एकने कहा, 'जरा मैं भी देखूं ।' और देखते-देखते उसने पन्द्रह-बीस मिनिटोंमें, अगर अच्छी नहीं तो, साधारण पूनी बना ली । इसे सीखना इतना आसान है । उसकी गति भी व्यहार-सुलभ है । इस सम्बन्धके कुछ आंकड़े वल्लभभाई (भगवानजी) ने अपने एक लेखमें दिये हैं । नागपुर जेलमें मैंने जो प्रयोग किये उनके आधारपर मैंने भी जेलसे ही एक लेख भेजा था । रामदासजी गुलाटीको

जब तुनाई करके दिखाई गई, तब वह कहने लगे कि मिल की पूनीके लगभग सभी गुण इस पूनीमें हैं और वैज्ञानिक दृष्टिसे यह पूनी करीब-करीब निर्दोष है। इस दशयंत्र-पींजनका सर्वत्र प्रचार करनेके लिए ग्रामसेवा-मंडलमें और अधिक शोध और प्रयोग होने चाहिएं।

दूसरी महत्त्वकी बात यह है कि बुनकर खुद कातकर उसी सूतकी खादी बुनें। इसकी तरफ जाजूजीने सबका ध्यान दिलाया है। हिंदुस्तानमें बुनकरोंका बहुत बड़ा वर्ग है। लड़ाई के समय उनके लिए कोई इंतजाम नहीं हो सकेगा। इसलिए उन्हें भी इस खादीके काममें लगाना चाहिए। मैं कई तरह के आंकड़ोंपर-से इस परिणामपर पहुंचा हूं कि आज दूसरोंका काता हुआ भला-बुरा सूत बुननेके लिए बुनकर जो मजदूरी पाता है, उससे कम मजदूरी उसे अपना सूत बुननेमें नहीं मिलेगी। अपना सूत बुनना उसके लिए अधिक आसान तो होने ही वाला है। इस विषयमें भी व्यापक प्रयोगकी आवश्यकता है।

इसीके साथ-साथ वस्त्र-स्वावलंबी लोगों का सूत जहांका वहीं बुनवानेका प्रबंध करना होगा। इसके लिए स्वावलंबी व्यक्तियोंके सूतमें उन्नति होना जरूरी है। सूतमे उन्नतिकी बात आते ही फिर 'दशयंत्र-पींजनपर ही ध्यान जाता है। साधारण 'यंत्र-पींजन' वैसे उपयोगी भले ही मान लिया जाय, तोभी लड़ाई के जमानेकी व्यापक योजनामें वह निरुपयोगी है। मेरा यह दावा है कि उस यंत्रसे उतनी शास्त्रीय पूनी नहीं बनती, जितनी इस दशयंत्रसे बनती है।

परन्तु इसमें यह मानी हुई बात है कि यह दशयंत्र-पींजन या तुनाई कपास से ही होनी चाहिए। आज सब जगह प्रायः सारी क्रियाओंमें रुई ही काममें लाई जाती है। अब रुईकी जगह कपासका उपयोग करना चाहिए। किसानको अपने खेतमें से अच्छी बड़ी-बड़ी डोडीवाली कपासका संचय करना चाहिए। फिर उसे सलाई-पटरी जैसे साधनसे ओट लेना चाहिए। इसमें प्रायः एक भी बिनौला नहीं बिगड़ेगा। किसान छांट-छांटकर अच्छी-अच्छी डोडियां बीनेगा। इसलिए उसे अच्छा बीज मिलेगा और उसका खेत समृद्ध होगा। इस प्रकार

कपाससे शुरू करनेमें अनेक लाभ हैं । रुईसे शुरू करनेमें हम उन्हें गंवा देते हैं ।

खादीका अर्थ-शास्त्र सचमुच इतनी पुख्ता नींवपर खड़ा है कि उससे सस्ता और कुछ भी नहीं सिद्ध हो सकता । लेकिन उसकी जगह बीचकी ही किसी अलग प्रक्रियाको खादीकी प्रक्रिया मान लेना खादीको नाहक बदनाम करना है ।

कार्यकर्त्ताओंको समग्र-दर्शनके इस विचारपर अच्छी तरह ध्यान देना चाहिए, कहा जाता है कि मिलें सस्ती पड़ती हैं । हम हिसाब करके दिखा देते हैं कि वे महंगी हैं । मिलोंमें व्यवस्थापक वर्गका जबरदस्त खर्च, यंत्र, यंत्रोंका घिसना, मालका लाना-ले जाना, मालिकोंका अजस्र मुनाफा, आदि कई आपत्तियां स्पष्ट ही हैं । लेकिन फिर भी अगर मिल सस्ती मालूम होती है,तो,या तो उसमें कोई जादू होना चाहिए या फिर हमारे एतराज गलत होने चाहिएं । एतराज तो गलत नहीं कहे जा सकते । तो फिर अवश्य तिलस्म है । वह जादू यह है कि मिल एक विराट् यांत्रिक रचनाकी जंजीरकी एक कड़ी है । बड़े कारखानोंमें मुख्य उद्योगके साथ-साथ उससे संबंध रखनेवाले दूसरे भी फुटकर उद्योग कराये जाते हैं । कारखाना उन उद्योगोंके लिए नहीं चलता । इसलिए उन्हें गौण पैदावार कहते हैं । इन गौण उद्योगोंसे जो आमदनी होती है उससे प्रधान उद्योगको लाभ होता है और यह सब मिलाकर वह कारखाना आर्थिक दृष्टिसे पुसाता है । मिलकी यही स्थिति है । वह एक समग्र विचार-शृंखला की कड़ी है ।

मिलोंके साथ-साथ रेल आई । शांतिके समय माल लाना-लेजाना उनका प्रधान कार्य है । यात्रियोंको भी उनसे लाभ होता है । लोगोंको लंबे सफर करनेकी आदत हो जाती है । उनके विवाह-सम्बन्ध भी दूर-दूर के स्थानोंमें होने लगते हैं और इस तरह रेल उनके जीवनकी एक आवश्यकता हो जाती है । फिर उससे फायदा उठाकर मिलोंके विषयमें सस्तेपनका एक भ्रम पैदा किया जा सकता है ।

• •

मैंने रेलका उदाहरण दिया । ऐसी कई चीजें मिलकी मददके लिए उप-

स्थित हैं। इसलिए मिल सस्ती प्रतीत होती हैं। अगर सिर्फ मिलका ही विचार किया जाय, तो वह बहुत महंगी होती है। यही नियम खादीके लिए भी लागू करना चाहिए। अगर अकेली खादीका ही विचार किया जाय, तो वह महंगी मालूम होगी। लेकिन ऐसा असंबद्ध विचार नहीं किया जा सकता। किसी सुंदर आदमीके अवयव अलग-अलग काटकर अगर हम देखने लगें, तो क्या होगा? कटी हुई नाक खूबसूरत थोड़े ही लगेगी? उसमें तो आरपार छेद दिखाई देंगे। लेकिन ऐसे पृथक् किये हुए अवयव अपनेमें सुंदर न होते हुए भी, सब मिलकर शरीरको सुन्दर बनाते हैं। जब हम समग्र जीवनको दृष्टिमें रखकर खादीको उसका एक अंग मानेंगे, तब खादीजीवन मिलजीवन की अपेक्षा कहीं सस्ता साबित होगा।

खादीमें लाने-लेजानेका सवाल ही नहीं है। वह तो जहांकी वहीं होती है। घरकी घर हीमें व्यवस्थित-रूपसे रहती है। याने व्यवस्थापकोंका काम नहीं रह जाता। कपड़ेकी जरूरतसे ज्यादा कपास फिजूल बोई ही नहीं जायगी इसलिए कपासका भाव हमारे हाथोंमें रहेगा। चुनी हुई डोडियां घरपर ही ओटी जायंगी, जिससे बोनेके लिए बढ़िया बिनौले मिलेंगे और खेती विशेष संपन्न और प्रफुल्लित होगी। बचे हुए बिनौले बेचने नहीं पड़ेंगे। वे सीधे गायको मिलेंगे और फलस्वरूप अच्छा दूध, घी और बैल मिलेंगे। वस्त्र-स्वावलंबनके लिए आवश्यक डोडियां सलाई-पटरी या उसीकी विशेषताएं रखनेवाली ओटनीपर ओट ली जायंगी। वह ताजी साफ रुई आसानीसे धुनी जा सकेगी। वह दशयंत्रसे भलीभांति धुनी जायगी और सूत समान तथा मजबूत कत सकेगा। सूत अच्छा होनेके कारण बुननेमें सुगमता होगी। अच्छी बुनावटके कारण वह शरीरपर ज्यादा दिन टिकेगा और कपड़ा ज्यादा दिन चलनेके कारण उतने अंशमें कपासकी खेतीवाली जमीनकी बचत होगी। अब इस सबमें तेलकी घानी आदि ग्रामोद्योग और जोड़ दीजिए और देखिए कि वह सस्ती पड़ती है कि महंगी। आप पायेंगे कि वह बिलकुल महंगी नहीं पड़ती। जब खादीका यह 'समग्र दर्शन' आपकी आंखोंमें समा जायगा, तो खादीकार्यका आरंभ कपासकी बजाय रुईसे करनेमें कितनी भारी भूल होती है, यह भी समझमें आ जायगा। और

इसके अतिरिक्त सारा खादीकार्य सांगोपांग करनेकी दृष्टि भी प्राप्त होगी।

और एक बात, जिससे समग्र दर्शन और स्पष्ट होगा। यह एक स्वतंत्र विषय भी है। पांच-छः साल पहले मैं रेलमें अपना चरखा खोलकर कातने लगा। वैसे भी मेरी आंखें कमजोर हैं, उसमें फिर गाड़ीके धक्के लगते थे, इसलिए धीरे-धीरे सम्हलकर कातनेपर भी थोड़ा-बहुत टूटता ही था। टूटते ही मैं अपने सिद्धांतके अनुसार उसे फिर जोड़ लेता था। मेरी बगलमें एक बैठे थे। बी० एस्-सी० पास थे। बड़े ध्यानसे ये सारी बातें निहार रहे थे। थोड़ी देरके बाद बोले, "कुछ पूछना चाहता हूं।" "पूछिए", मैंने कहा। वह बोले, "आप टूटे हुए तारोंको जोड़नेमें इतना वक्त खोते हैं, इससे उनको वैसे ही फेंक देना क्या आर्थिक दृष्टिसे लाभकारी नहीं होगा?" मैंने उनसे कहा, "अर्थशास्त्र दो तरहका है। एक आंशिक अथवा एकांगी और दूसरा परिपूर्ण। इनमेंसे एकांगी अर्थशास्त्रको छोड़कर परिपूर्ण अर्थशास्त्रकी कसौटीपर परखना ही उचित है।" वह बोले, "दुरुस्त है।" तब मैंने उनसे पूछा, "आप कहते हैं कि थोड़ा-सा टूटा हुआ सूत अगर अकारथ जाय तो कोई हर्ज नहीं। लेकिन उसकी क्या मर्यादा हो? कितना फीसदी आप माफ फरमायेंगे?" उन्होंने कहा, "पांच प्रतिशत तक माफ कर देनेमें हर्ज नहीं है।" तब मैंने कहा, "पांच प्रतिशत सूत, जो कि जुड़ सकता है, फेंक देनेका क्या नतीजा होता है, यह देखने लायक है। इसका यह मतलब है कि कातनेवाला इस तरह सौ एकड़ कपास खेतोंमेंसे बैठे-बैठे पांच एकड़की उपज यों ही फूंक देता है। तांतके सौ कारखानोंमेंसे पांच कारखानोंको बेकार कर देता है। कातनेवालोंके लिए बनाई गई सौ इमारतोंमेंसे पांच गिरा देता है। हिसाबकी सौ बहियोंमेंसे पांच फाड़ देता है।" इत्यादि इत्यादि।

इसके अलावा, जिसने पांच-प्रतिशतका न्याय स्वीकार कर लिया, उसके सभी व्यवहारोंको वह ग्रास कर रहेगा। उससे होनेवाली हानि कितनी भयानक होगी, यह समझना मुश्किल नहीं है। भोजनके वक्त अगर कोई थालीमें बहुत-सी जूठन छोड़कर उठ जाता है, तो हम उसे मस्ताया हुआ कहते हैं। क्योंकि जूठन छोड़नेका यह मतलब है कि वह, किसानके बैलसे लेकर रसोई बनानेवाली मां

तक, सबकी मेहनतपर पानी फेर देता है। इसलिए जूठन छोड़नेसे मांका नाराज होना काफी नहीं है। हल चलानेवाले बैलको चाहिए वह उसे एक लात मारे और किसानसे लेकर दूसरे सब एक-एक धौल जमायें।

इसीलिए हर चीज सामग्र्यकी दृष्टिसे देखनी चाहिए। इसीलिए भगवद्-गीतामें ईश्वरके ज्ञानके पीछे "असंशय समग्रम्" ये विशेषण लगाये गये हैं। हमारे खादीके आंदोलनमें समग्र-दर्शनकी बहुत जरूरत है। हम जब खादीको समग्र-दर्शनपूर्वक आगे बढ़ायेंगे, तभी, और केवल तभी, वह व्यापक हो सकेगी। यह हमारी कसौटीका समय है।[1]

(ग्राम-सेवा-वृत्तसे : सर्वोदय, अप्रैल १९४२)

: १६ :

उद्योगमें ज्ञानदृष्टि

कलके भाषणमें मैंने सर्वजनोंके लिए जो कुछ मुझे कहना था, सो कहा। आज मेरे सामने विशेषकर स्कूलके लड़के और शिक्षक हैं। उन्हींके लिए कुछ कहूंगा।

मेरी दृष्टिसे हमारे शिक्षणमें सबसे बड़ी जरूरत अगर किसी चीजकी है तो विज्ञानकी। हिंदुस्तान कृषिप्रधान देश भले ही कहलाता हो, तो भी उसका उद्धार सिर्फ खेतीके भरोसे नहीं होगा। यूरोपीय राष्ट्र उद्योग-प्रधान कहलाते हैं। हिंदुस्तानमें खेती ही प्रधान व्यवसाय होते हुए भी यहां फी आदमी सवा एकड़ जमीन है। इसके विपरीत फ्रांसमें, जो एक उद्योग-प्रधान देश कहलाता है, प्रति-मनुष्य साढ़े तीन एकड़ जमीन है। इसपरसे मालूम होगा कि हिंदुस्तानकी हालत कितनी बुरी है। इसका मतलब यह है कि हिंदुस्तानमें अकेली खेती ही होती है; और कुछ नहीं होता। अमेरिका (संयुक्त राज्य) संसारका सबसे सघन देश है। उसमें खेती और उद्योग दोनों बहुत बड़े परि-

---

[1] ग्राम-सेवा मंडलकी सर्वसाधारण सभामें (९ जनवरी १९४२को) दिया गया भाषण।

णाममें चलते हैं। वह युद्धके लिए रोज पचपन करोड़ रुपये खर्च कर रहा है। हमारे देशकी जनसंख्या चालीस करोड़ है। इतने लोगोंको हर रोज भोजन देनेके लिए, यहांके हिसाबसे प्रतिदिन पांच करोड़ रुपया खर्च लगेगा। अमेरिका इतना धनवान देश है कि वह रोज जितना खर्च करता है, उसमें हिंदुस्तानको ग्यारह दिन भोजन दिया जा सकता है। हिंदुस्तानकी फी आदमी सालाना आमदनी खेतीसे पचास-साठ रुपये और उद्योगसे बारह रुपये है। इसीलिए हिंदुस्तानको कृषिप्रधान कहना पड़ता है। अब जरा इंग्लैंडकी तरफ नजर डालिए। वहां भी खेतीकी आमदनी, यहांकी ही तरह, फी-आदमी पचास-साठ रुपये सालाना होती है, और उद्योगकी होती है पांच सौ बारह रुपये। इसपरसे आपको पता चलेगा कि हमारा देश कहां है। यह हालत बदल देनेके लिए हमारे यहांके विद्यार्थी, शिक्षक और जनता, सभी को उद्योगमें निपुण बन जाना चाहिए। उसके लिए उन्हें विज्ञान सीखना चाहिए।

(अ) हमारा रसोईघर हमारी प्रयोगशाला होनी चाहिए। वहां जो आदमी काम करता हो, उसे किस खाद्य पदार्थमें कितना उष्णांक, कितना ओज, कितना स्नेह है, आदि सारी बातोंकी जानकारी होनी चाहिए। उसमें यह हिसाब करने की सामर्थ्य होनी चाहिए कि किस उम्रके मनुष्यको, किस कामके लिए कैसे आहारकी जरूरत होगी।

(आ) शौचको तो सभी जानते हैं। लेकिन स्कूलवालोंका काम इतनेसे नहीं चलेगा। "मैलेका क्या उपयोग होता है? सूर्यकी किरणोंका उसपर क्या असर होता है? मैला अगर खुला पड़ा रहे तो उससे क्या नुकसान है? कौनसी बीमारियां पैदा होती हैं? जमीनको अगर उसका खाद दिया जाय, तो उसकी उर्वरता कितनी बढ़ती है?"—आदि सारी बातोंका शास्त्रीय ज्ञान हमें हासिल करना चाहिए।

(इ) कोई लड़का बीमार हो जाता है। वह क्यों बीमार हुआ? बीमारी मुफ्तमें थोड़े ही आई है? तुमने उसे गिरहसे कुछ खर्च करके बुलाया है। अतिथिकी तरह उसका खयाल रखना चाहिए। वह क्यों आई, कैसे आई, आदि पूछना चाहिए। उसकी उपयुक्त पूजा और उपचार कैसे किया जाय, यह

शक्ति; अर्थात् अध्यात्म। इसके लिए बीचमें निमित्तमात्र भाषाकी जरूरत होती है। उसका उतना ही ज्ञान आवश्यक है। भाषा चिट्ठीरसाका काम करती है। अगर मैं चिट्ठीमें कुछ भी न लिखूं, तो वह कोरा कागज भी चिट्ठीरसा पहुंचा देगा। भाषा विद्याका वाहन है। यह भी कोई कम कीमती बात नहीं है। विज्ञान और अध्यात्म ही विद्या है। उसीका मैं विचार करूंगा। मेरा चरखा अगर टूट गया, तो क्या मैं रोता बैठूंगा? मैं बढ़ईके पास जाकर उसे सुधरवा लूंगा। उसी तरह, अगर मुझे बिच्छूने काट खाया, तो मुझे रोते नहीं बैठना चाहिए। उसका उपचार करके छुट्टी पानी चाहिए। इसी प्रकार आत्माकी अलिप्तताका ज्ञान होना चाहिए। उसकी मुझे आदत हो जानी चाहिए। यही मेरी शालाकी परीक्षा होगी। मैं भाषाका पर्चा निकालनेकी झंझटमें नहीं पड़ूंगा। लड़कोंकी बोलचालसे ही मैं उनका भाषा-ज्ञान भांप जाऊंगा।

विद्यार्थी भोजन करते हैं और दूसरे लोग भी भोजन करते हैं। लेकिन दोनोंके भोजन करनेमें फर्क है। विद्यार्थियोंका भोजन ज्ञानमय होना चाहिए। जब विद्यार्थी अनाज पीसेगा और छानेगा, तो वह देखेगा कि उसमेंसे कितना चोकर निकलता है। मान लीजिए कि सेरमें आठ तोले चोकर निकला। यानी दस-प्रतिशत चोकर निकला। यह बहुत ज्यादा हुआ। दूसरे दिन वह पड़ोसीके यहां जाकर वहांका चोकर तौलेगा। वह देखता है कि उसके आटेमेंसे ढाई तोले ही चोकर निकला है। दस-प्रतिशत चोकर निकलनेमें क्या हर्ज है? उतना चोकर अगर पेटमें जाय, तो नुकसान क्यों होगा?—आदि प्रश्न उसके मनमें उठने चाहिएं और उनके उचित उत्तर भी उसे मिलने चाहिएं। जब ऐसा होगा, तो, जैसा कि गीतामें कहा है, उसका हर एक काम ज्ञान-साधन होगा। अगर बुखार आया, तो वह ज्ञान दे जायगा। वह भी प्रयोग ही होगा। फिर उस तरहका बुखार नहीं आयगा। जहां हर एक काम इस तरह ज्ञान-दृष्टि से किया जाता है, वह पाठशाला है और जहां वही काम कर्म-दृष्टिसे होता है वह कारखाना है।

इस प्रकार प्रयोगबुद्धिसे, ज्ञानदृष्टिसे प्रत्येक काम करनेमें थोड़ा खर्च तो होगा। लेकिन उससे उतनी कमाई भी होगी। स्कूलमें जो चरखा होगा वह

बढ़िया ही होगा। चाहे जैसे चरखेसे काम नहीं चलेगा। स्कूलमें काम चाहे थोड़ा कम भले ही हो, लेकिन जो कुछ काम होगा, वह आदर्श होगा। कपास तौलकर ली जायगी। उसमेंसे जितने बिनौले निकलेंगे, वे भी तौल लिए जायेंगे। रोजियामेंसे जब इतने बिनौले निकले, तब व्हेरममेंसे इतने क्यों, इस तरहका सवाल पूछा जायगा। और उसका जवाब भी दिया जायगा। बिनौला मटरके आकारका होकर भी दोनोंके वजनमें इतना फर्क क्यों ? बिनौलेमें तेल होता है, इसलिए वह हलका होता है। फिर यह देखा जायगा कि इसी तरहके दूसरे धान्य कौन-से हैं। इसके लिए तराजूकी जरूरत होगी। वह बाजार से नहीं खरीदा जायगा। स्कूलमें ही बनाया जायगा। जब हम यह सब करनेका विचार करेंगे, तभीसे विज्ञान शुरू हो जायगा। हरएक काम अगर इस ढंगसे किया जाय, तो वह कितना मनोरंजक होगा ? फिर उसे कौन भूलेगा ? अकबर किस सन्में मरा, यह रटनेकी क्या जरूरत है ? वह तो मर गया, लेकिन हमारी छातीपर क्यों सवार हुआ ? मैं इतिहास रटनेको पैदा नहीं हुआ हूं। मै तो इतिहास बनानेके लिए पैदा हुआ हूं।

शिक्षककी दृष्टिसे हरएक चीज ज्ञान देनेवाली है। उदाहरणके लिए, मैलेकी ही बात ले लीजिये। वह बहुत बड़ा शिक्षण देता है। मैंने तो उसके बारेमें एक श्लोक ही बना डाला है : **"प्रभाते मलदर्शनम्"** (सवेरे मैलेका दर्शन करो)। सबेरे मैलेके दर्शनसे मनुष्यको अपने स्वास्थ्यका स्थितिका पता चलता है। मैले में अगर मूंगफलीके टुकड़े हों, तो वे पेटपर पिछले दिन किये हुए अत्याचार तथा अपचनका ज्ञान और भान करायेंगे। उसके अनुसार हम अपने आहार-विहारमें फर्क कर लेंगे। आप चाहे कितनी ही सावधानी और सफाईसे रहिये, आखिर मैला तो गंदा ही रहेगा। सबेरे उसके अवलोकनसे आसक्ति कम होगी और वैराग्य पैदा होगा। मां जाड़ोंमें जिस तरह बच्चेको कपड़ेसे ढंकती है, उसका कोई भी अंग खुला नहीं रहने देती, उसी तरह हम भी बड़ी सावधानीसे सूखी मिट्टीसे अगर मैलेको ढंक दें और यथासमय उसे खेतमें फैला दें, तो वही मैला हमारी लक्ष्मीको बढ़ायेगा।

इसी तरह पाठशालामें प्रत्येक काम ज्ञानदायी और व्यवस्थित होगा।

लड़का बैठेगा, तो सीधा बैठेगा। अगर मकानका मुख्य खंभा ही झुक जाय, तो क्या वह मकान खड़ा रह सकेगा ? नहीं। उसी तरह हमें भी अपने मेरु-दंडको हमेशा सीधा रखना चाहिए। पाठशालामें यदि इस प्रकारसे काम होगा, तो देखते-देखते राष्ट्रकी कायापलट हो जायगी। उसका दुःख-दैन्य गायब हो जायगा, सर्वत्र ज्ञानकी प्रभा फैलेगी।

स्कूलमें होनेवाला प्रत्येक काम ज्ञानका साधन बन जाना चाहिए। इसके लिए स्कूलोंको सजाना होगा। अच्छे-अच्छे साधन जुटाने होंगे। श्रीरामदास स्वामीने कहा है, 'देवताका वैभव बढ़ाओ।' लोगोंको अपने घर सजानेके बदले शालाएं सजानेका शौक होना चाहिए। उन्हें शालाको आवश्यक चीजें उपलब्ध करा देनी चाहिएं। लेकिन इतना ही बस नहीं है। एकाध दानवीर मिल जाता है और कहता है,'मैंने इस शालाको इतनी सहायता दी।' लेकिन अपने लड़कोंको किस स्कूलमें भेजता है ?—सरकारी स्कूलमें। सो क्यों ? अगर आप राष्ट्रीय पाठशालाओं को दानके योग्य मानते हैं, तो उन्हें सब तरहसे संपन्न और सुशोभित करके अपने लड़कोंको वहीं क्यों नहीं भेजते ?

लड़के राष्ट्र के धन हैं। लेकिन उनके भोजनमें न दूध है, न घी ! फी लड़केका मासिक भोजन खर्च ढाई रुपये है ! इसे क्या कहा जाय ? हम सारे राष्ट्रकी अवस्थाको भूल नहीं सकते, यह तो माना। लेकिन फिर भी जितना कम-से-कम जरूरी है, उतना तो मिलना ही चाहिए। पिछले दिनों यह शिकायत थी कि जेलमें कैदियोंको उचित खुराक नहीं मिलती, दूध नहीं मिलता। गांधीजीकी सूचनासे बाहरके डाक्टरोंने यह तय किया कि निरामिषभोजी व्यक्तिके लिए कम-से-कम कितने दूधकी जरूरत है। उनके निर्णयके अनुसार हरएक व्यक्ति को कम-से-कम तीस तोले दूध मिलना चाहिए। और सरकार अगर कैदियोंको रखती है, तो उसे उनकी कम-से-कम आवश्यकता पूरी करनी ही चाहिए। लेकिन अगर हम अपने विद्यालयोंमें ही इस नियमपर अमल नहीं करते, तो सरकारसे आशा करना कहांतक शोभा देगा ? लड़कोंको दूध मिलना ही चाहिए। उन्हें अच्छा अन्न मिलना ही चाहिए। वरना उनमें तेज नहीं पैदा होगा।

मैंने कुछ बातें शिक्षकोंके लिए, कुछ छात्रोंके लिए और कुछ औरोंके लिए कही हैं। ये सब मेरे अनुभवकी बातें हैं। आशा है कि उनका उचित उपयोग होगा।
(ग्राम-सेवा-वृत्तसे : सर्वोदय, मई १९४२)

: १७ :

ग्राम-सेवाका तंत्र

[१]मैंने आज मुख्यतः मगनवाड़ीके विद्यार्थियोंके दर्शनके लोभसे यहां आना स्वीकार किया। मैं प्रमाणपत्र देने आया ही नहीं हूं। क्योंकि प्रमाणपत्रमें मुझे श्रद्धा नहीं है। जिन विषयोंमें मुझे प्रमाणपत्र मिले, उन विषयोंका मेरा ज्ञान नहीं के बराबर है और जिन विषयों में मैंने परीक्षा ही नहीं दी, उनका मुझे अच्छा ज्ञान है। लेकिन यहां दिये गये प्रमाणपत्र परीक्षा के नहीं हैं; इसलिए मैं आशा करता हूं कि वे निरर्थक नहीं ठहरेंगे।

यहांसे ये विद्यार्थी देहातमें जायंगे। उन्होंने देहातकी सेवाके लिए ही शिक्षण पाया है। इस समय देहात में कार्य करनेकी की काफी गुंजाइश है। और मैं समझता हूं कि आप सब लोग गांवों में जाकर किसी-न-किसी उद्योगको शुरू करेंगे। लेकिन आपको वहां बहुत सावधानीसे रहना होगा। देहातियोंके जीवनका मान (दर्जा) बहुत-कुछ नीचा है। लेकिन उनका सेवाका मान बहुत ऊंचा है। इसलिए आजतक केवल संतोंने ही देहातोंकी सेवा की है। दूसरोंने तो उन्हें अपने फायदेके लिए चूसा ही है। इसलिए वहां सेवाका प्रमाणपत्र आसानीसे नहीं मिलता। वहां हमें रातदिन अतंद्रित रहकर काम करना होगा। देहातके लोग अपढ़ हैं; इसलिए हमें यह न समझना चाहिए कि हमारी अल्पस्वल्प विद्यासे काम चल जायगा। यह सही है कि देहातियोंमें इल्म और हुनरकी कमी है। लेकिन वे अपने कामसे वाकिफ हैं। जो काम करते हैं, सो ठीक-ठीक करते हैं। उदाहरणके लिए खेतीके कामको ही ले लीजिए। उस उद्योग-

---

[१]सुमसरकी 'तिलक राष्ट्रीय शाला'के विद्यार्थियों और गांवके तरुणोंकी सभामें (१४ फरवरी १९४२ को) किया प्रवचन।

में वे काफी होशियार होते हैं। इसलिए यह नहीं समझना चाहिए कि हमारे अधकचरे ज्ञानसे काम चल जायगा। हमारे ज्ञानकी कसौटी होगी। इसलिए हमें अतंद्रित रहना होगा। यह कहनेका रिवाज-सा पड़ गया है कि देहाती लोग आलसी होते हैं। यह आक्षेप बिलकुल ही बेबुनियाद हो, सो बात नहीं। लेकिन बहुत बड़े अंशमें वह दंतकथा ही है। शहरोंकी तरह देहातोंमें भी कुछ लोग निठल्ले होते हैं। लेकिन जिस कामको वे करते हैं, उसे इतना करते हैं कि उससे अधिककी अपेक्षा नहीं की जा सकती। ऐसी स्थितिमें देहातमें अगर हमारी उद्योगशीलता अपर्याप्त साबित हुई, तो हमें परीक्षामें फेल हुए समझना चाहिए।

जब हम देहातोंमें जायंगे, तो हमारे सामने एक विराट जगत खुलेगा। कईस्त्री-पुरुषोंसे संपर्क होगा। हमारा ध्यान अचूक उनके गुणोंकी तरफ ही जाना चाहिए। दोषोंकी तरफ प्रवृत्ति हरगिज नहीं होनी चाहिए। मैं मनुष्यके चित्तको घरकी उपमा दिया करता हूं। घरमें दीवारें होती हैं और दरवाजे होते हैं। मनुष्यके गुण उसके चित्तके दरवाजे हैं और दोष दीवारें। बिलकुल गरीबसे गरीबके मकानमें भी एकाध दरवाजा तो होता ही है। गुणके दरवाजेमेंसे ही मनुष्यके चित्तमें प्रवेश करना चाहिए। दरवाजेमेंसे अंदर जाना सरल है। दीवारमेंसे घुसनेकी कोशिश की जाय, तो सिर फूटेगा। दोषोंमेंसे जो किसीके चित्तमें प्रवेश करनेकी चेष्टा करेगा, उसकी यही हालत होगी। इसलिए गुणग्राहक वृत्ति होनी चाहिए। दरअसल हमें सभी स्त्री-पुरुषोंमें भगवान्की मूर्तियां दिखाई देनी चाहिएं। जब ऐसा होगा, तब हमारा कार्य सुकर होगा।

हम संसारमें नाना वादोंकी चर्चा सुनते हैं। अनेक पक्ष देखते हैं। लेकिन सेवकोंको सभी वादों और पक्षोंसे अलग रहना चाहिए। हमारे लिए सारे संसारमें दो ही पक्ष हैं—एक सेवक और दूसरा सेव्य या स्वामी। हम खुद सेवक हैं और दूसरे सब स्वामी। हमें स्वामीकी सेवासे ही संतोष मानना है। यही सेवकका धर्म है। सेवकको दलबंदियोंसे क्या मतलब? देहातमें गुटबंदियां भरपूर होती हैं। यह भी नहीं कि उनके पीछे कोई सिद्धांत होता हो। प्रायः द्वेष और स्वार्थ होता है। सेवकको इस तरहके किसी भी दलमें नहीं पड़ना

चाहिए। उसे निष्पक्ष रहकर सेवा करनी चाहिए। सेवा करना ही उसका काम है। हमारी सेवासे कौन खुश होता है और कौन नाराज, इससे हमें क्या करना है? हृदयस्थ भगवान् प्रसन्न हों, इतना काफी है।

उद्योग और विद्या अलग-अलग नहीं है। जहां इन्हें अलग कर दिया जाता है, वहां दोनों बेकार होजाते हैं। विद्याको अगर सिर कहा जाय, तो उद्योग उसका धड़ कहलायेगा। दोनोंको अलग करना, दोनोंको मार डालना है। अर्थात् राहूके जैसी हालत होगी। लेकिन यहां तुम्हें विद्या और उद्योगका लाभ एकत्र हुआ है। तुम्हें उद्योगके साथ-साथ ही विद्या दी गई है। अतः तुम्हारी विद्या वीर्यहीन नहीं होगी। तो भी अब देहातमें जानेपर तुम्हें कई भिन्न-भिन्न काम करने पड़ेंगे। प्रबंध देखना, हिसाब लिखना, पढ़ाना, प्रसंगवश व्याख्यान देना, आदि कई बातें ग्राम-सेवाके सिलसिलेमें करनी ही पड़ती हैं। लेकिन मैं कहूंगा कि इन सब कामोंको करते हुएभी तुम्हें रोज कुछ समय प्रत्यक्षउद्योगमें बिताना चाहिए। इससे तुम्हारी विद्या ताजी रहेगी, तुम्हें नये-नये शोधोंका ज्ञान रहेगा और नये शोध सूझते रहेंगे। कई बार ऐसा पाया जाता है कि अच्छे-अच्छे उद्योगमें निपुण लोगभी जब सेवा-कार्यकरने लगते हैं, तो शरीरश्रम करना भूल जाते हैं। कहते हैं, 'वक्त ही नहीं मिलता।' लेकिन इससे कार्यकर्ताओंकी तथा उनके कार्यकी हानि ही हुई दिखाई देती है। उद्योगसे नित्य परिचय न रहनेके कारण ज्ञान पिछड़ जाता है। फिर पुराने ज्ञानकी पूंजीसे ही काम चलाया जाता है। यह ठीक नहीं है। इसलिए ग्राम-सेवकको प्रतिदिन कुछ समय—मेरे विचार में, अगर संभव हो तो, आधा समय—उद्योगके लिए देना चाहिए। उसे ग्राम-सेवाका अंग ही समझना चाहिए।

आप देहातोंमें जायंगे; लेकिन वहांकी जमीन कड़ी होती है। यहां संस्थामें तुम्हारे लिए सारी सुभीतेकी चीजें मौजूद हैं। देहातोंमें सब असुविधाएं मौजूद होंगी। फच्चर टूट गई, बढ़ईगिरी आती नहीं, बढ़ई मिलता नहीं, कोल्हू रुका पड़ा है—ऐसी अवस्थामें हिम्मत नहीं हारनी चाहिए। धीरज रखना चाहिए। छोटी-से-छोटी बातका पूरा-पूरा ज्ञान होना चाहिए। बल्कि छोटी चीजोंको अधिक महत्त्व देना चाहिए। बड़ी बातें सहसा कोई भूलता ही नहीं; क्योंकि

वे बड़ी ठहरीं। इसलिए छोटी मालूम पड़नेवाली बातोंपर ही अधिक ध्यान देना चाहिए। अन्यथा उनके ज्ञानके अभावमें कहीं गाड़ी न रुक जाय। बुनाईमें खासी निपुणता प्राप्त करके एक आदमी देहातमें करघा लगाकर बैठा। लेकिन वह बुननेमें निपुण होते हुए भी करघा जमाना भला-भांति नहीं जानता था। इसलिए उसके करघेपर कपड़ा, जितना चाहिए उतना, अच्छा नहीं बुना जा सकता था। जो कोई उस करघेपर कपड़ा बुनने जाता, उसका कपड़ा बिगड़ जाता। यह किस बातका नतीजा था? करघा जमाना एक तुच्छ बात है ऐसा समझकर उसपर ध्यान न देनेका।

मुझे जो कुछ कहना था, मैंने थोड़ेमें कहा है। तुम्हें आज यहां संस्थाकी तरफसे प्रमाणपत्र तो मिले हैं, लेकिन सच्चे प्रमाणपत्र जनतासे ही प्राप्त करने हैं। और वे तुम्हें सच्ची सेवाके गुणके लिए ही मिलेंगे।

अंतमें मैं आशा करता हूं कि आप लोग देहातोंमें जाकर जनताकी भलीभांति सेवा करके वास्तविक प्रमाणपत्रोंके अधिकारी बनेंगे।[1]

(ग्राम-सेवावृत्तसे : सर्वोदय, जून, १९४२)

: १८ :

कृपया तशरीफ ले जाइये

मेरा आज व्याख्यान देनेके लिए आने का इरादा नहीं था। जो भाई पहले मुझे बुलाने आये थे, उनको लौटा भी दिया था। उन्होंने कहा कि फलाने बड़े सज्जनने आकर हमें समझाया है, तुम भी आओ। लेकिन मैंने सोचा, जब इतने सज्जन पहले ही आ चुके हैं और आ रहे हैं, तो मेरे जाने की-जरूरत नहीं। यानी जो कारण वे भाई मेरे यहां आनेके लिए बतला रहे थे, वही मेरी दृष्टिमें न आनेके

[1] मगनवाड़ी (वर्धा) में ग्राम-सेवक विद्यालयके पदवीदान समारंभके अवसर पर (२९ अप्रैल १९४२ को) अध्यक्ष-पदसे दिया गया भाषण।

लिए अच्छा कारण था। लेकिन गोपालरावने बहुत आग्रह किया; इसलिए आना पड़ा।

मेरा न आनेका दूसरा भी एक कारण था। आजकल जितने मुंह उतने विचार बोले जाते हैं। मतभेदोंका बाजार-सा लग रहा है। इस हालतमें मैंने सोचा कि जब इतने आदमी आपको अपनी-अपनी रायें सुना चुके है, तो मेरा अपनी राय सुनाना शायद आपकी बुद्धिको अधिक भ्रममें डाल दे। गीतामें भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है कि बहुत सुन-सुनकर तेरी बुद्धि भ्रममें पड़ गई है। इस भ्रमजालमेंसे जब छूटेगा, तब कहीं तुझे सच्चा ज्ञान होगा। आपके यहां पहले अगर दस आदमी आ चुके हों, तो मैं ग्यारहवां आकर, संभव है, कि आपकी बुद्धिमें अधिक भ्रम पैदा कर दूं। इससे कार्यकी हानि ही होगी। यह सोचकर मै आना नहीं चाहता था। लेकिन आग्रह-वश आना पड़ा।

जवाहरलालजी बहुत दफा मौजूदा सरकारकी कड़ी टीका किया करते हैं। वह कहते हैं कि इसका कारोबार इतना अव्यवस्थित और निकम्मा है कि उससे बढ़कर निकम्मा दूसरा हो ही नहीं सकता। इस सरकारकी अक्षमताका पार नही है। उनकी टीकासे मैं पूरी तरह सहमत हूँ। लेकिन मेरे विचारमें यह हाल सिर्फ हिंदुस्तानकी सरकारका ही नहीं; दुनियाकी सभी सरकारोंका है। लेकिन हिंदुस्तान-सरकारकी एक खुसूसियत है; उसने यहांकी प्रजाको निःशस्त्र बना रखा है। इसलिए वह बड़ी निश्चित होकर बड़े आरामसे राज्य करती थी। अब अचानक आफ़त आ गई है। उसका सामना करनेकी बुद्धि और ताकत अब हमारी सरकारमें नहीं है। लेकिन यह भारत-सरकारकी विशेषता है। परन्तु आज तो जगतके सभी राज्यतंत्र बेकार साबित हो चुके हैं। इसका एक कारण है। उसपर आपको ध्यान देना चाहिये। जैसे-जैसे यंत्रोंकी क्षमता बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे बुद्धिकी क्षमता घटती जाती है। इसलिए जहां देखिए, अव्यवस्थाका ही साम्राज्य फैला हुआ है।

जबसे अमेरिका जैसा बड़ा और प्रतापी राज्य युद्धमें शामिल हुआ है, तबसे युद्धका सारा कारोबार अमेरिकाकी ही सलाहसे चलता है। चौबीस हजार मील लंबी दुनियाका सारा व्यवहार, अमेरिका कहता है, हम करेंगे :

सामान इधर से उधर हमारी सलाहसे जायगा, यूरोपका उद्धार हमारे जरिये होगा, हिन्दुस्तानको हम बचायेंगे, जापानका मुकाबला हम करेंगे, आस्ट्रेलिया-की मदद हम करेंगे ।

अमेरिकाकी तरफसे उसके अध्क्षय, रूजवेल्ट यह कह रहे हैं । जो सबसे बुद्धिमान व्यक्ति होता है वही अध्यक्ष चुना जाता है, ऐसी बात नहीं । पुराने जमानेमें राजाका पुत्र राजा बनता था । कभी-कभी नसीबसे वह बुद्धिमान होता था । उसी तरह आज जो व्यक्ति चुने जाते हैं, वे भी नसीबसे ही बुद्धिमान होते हैं । ज्यादा संभव यही है कि उनमें अधिक बुद्धि नहीं होती । जिनमें बुद्धि कम और अहंकारकी मात्रा अधिक होती है, वे ही अक्सर चुने जाते हैं । क्योंकि ऐसे व्यवहारोंमें वे ही पड़ते हैं । बुद्धिमान तो दूर-दूर ही रहते हैं, क्योंकि वे दुनिया पर कम-से-कम सत्ता चलानेमें ही बुद्धिमानी समझते हैं । इसलिए याने अपनी इस निष्ठाके कारण ही, राजकाजमें कम दखल देते हैं । अक्सर जो लोग राष्ट्रके नेता बन जाते हैं, वे बुद्धिसे श्रेष्ठ नहीं होते । उस देशकी आम जनताकी बुद्धिसे चाहे उनकी बुद्धि 'कम न हो । शायद कुछ अधिक भी हो । तो भी वे बुद्धिमान नहीं कहे जा सकते ।

इसके इलावा, उनसे जब कोई सलाह पूछी जाती है, तो उन्हें फौरन जवाब देना पड़ता है । फौरन पूछने और फौरन जवाब देनेके शीघ्र-औजार तैयार हुए हैं । पांच दस मिनिटमें दुनिया भरके कारोबारका जवाब देना पड़ता है । यह कोई हँसीकी बात नहीं है । बेचारे क्या करें ? जैसा सूझता है, जवाब देते हैं । इसलिए मैं कहता हूं कि कारोबार बुद्धिसे नहीं चल रहा है । सारा नसीबका खेल है ।

इसलिए जबसे अमेरिका युद्धमें शामिल हुआ, तभीसे मुझे यह विश्वास हो गया कि यह युद्ध अब मानवके हाथमें नहीं रहा, बल्कि मानव ही युद्धके हाथमें चला गया है । जावा और मलायामें इनकी बुद्धि चकरा गई । सूझबूझ धरी रह गई । तबसे सामान्य मनुष्यको भी यह शंका होने लगी है कि इतना बड़ा साम्राज्य चलाने वालोंमें बुद्धिकी इतनी पोल और व्यवस्था-शक्ति की इतनी कमी कैसे रह गई ? सिंगापुर और बर्मामें इनकी ऐसी

दुर्दशा क्यों हुई ?

वे यह सकते हैं कि तुम लड़ाईसे दूर-दूर रहते हो, इसलिए ऐसी बातें कर सकते हो। हमें जो सूझता है वह करते हैं। तुम अगर हमारी जगह होते और इतनी बड़ी जिम्मेवारी तुम पर होती, तो हमसे भी ज्यादा गलतियां करते।

मैं कबूल करता हूं कि हम काफी भूलें करते। लेकिन मैं यह पूछता हूं कि यह जिम्मेवारी आपके सिर पर डाली किसने ? वे जवाब देते हैं, "इतिहास-ने डाली है। पहले ईस्ट इंडिया कम्पनी कायम हुई, इस देशसे तिजारत शुरू हुई, क्लाइवने ब्रिटिश राज्यकी नींव डाली, वारन हेस्टिंग्जने बाकायदा राज्यकारबार जारी किया। इस तरह इतिहासने धीरे-धीरे यह जिम्मेवारी हमें सौंपी है। अब हम उसे छोड़ नहीं सकते"।

हम कहते, "अगर आप इतने दूरसे यहां आ सकते थे, तो जा भी नहीं सकते हैं क्या ? क्या वापस जानेसे इतिहासके पृष्ठ आपको रोकते हैं ? जैसे आनेका इतिहास बना, वैसे जानेका भी तो इतिहास बन सकता है। आनेका इतिहास भद्दा और भयानक है। वापस चले जानेका इतिहास उज्ज्वल और खूबसूरत होगा। उसमें सुंदरता और नीतिकत्ता होगी। आप ऐतिहासिक जिम्मेवारीके बोझसे नाहक क्यों दबे जा रहे हैं !

दूसरे राष्ट्र भी इसी ऐतिहासिक जिम्मेवारीके भ्रमजालमें फंसे हुए हैं। वे नहीं जानते कि इतिहास आखिर मानवकी ही करतूत है। इतिहास हमको बनाता है यह कुछ अंशोंमें सही है। लेकिन उसी तरह यह भी सही है कि हम भी इतिहासको बनाते हैं। आज तो ऐतिहासिक जिम्मेवारीका ढकोसला नाहक हमारे सामने रचा जा रहा है। रूज़वेल्ट कहता है, "प्रशांत महासागर अमेरिकाकी बगलमें है। उसकी और उसमें बसे हुए टापुओंकी जिम्मेवारी हमारी है"। जापान कह सकता है कि हमारा तो टापू ही प्रशांत महासागरमें बसा हुआ है। इसलिए हमारी जिंम्मेवारी विशेष है। इस तरह यह जिम्मे-वारियोंका व्यर्थका झगड़ा चलता है।

लेकिन मेरे विचारमें सबसे भयानक वस्तु यह है कि इस हत्याकांडमें आम जनताको निष्कारण दाखिल किया जाता है। जिस जनताको युद्धसे कोई मतलब

नहीं है, उसका खून बहाया जाता है, उसके नामपर दूसरे लोगोंका खून बहाया जाता है। यह सारी व्यवस्थापकोंकी करतूत है। उसमें आम जनताका कोई लाभ नहीं है। इसलिए दुनिया भरके व्यवस्थापकोंसे हम कहते हैं कि अब आप व्यवस्था छोड़ दीजिये। तभी हम सुखी होंगे। हम अपने यहांके व्यवस्थापकोंसे प्रार्थना करें। अमेरिका, इंगलैंड, जापान, जर्मनी अपने-अपने व्यवस्थापकोंसे विनती करें। न मालूम वहांके लोगोंको कब सूझेगी। कम-से-कम हम तो शुरू कर दें। हम उनसे कहें कि तुमने हजार सालसे व्यवस्थाके कई प्रयोग किये। हमें कोई सुख नहीं हुआ। आपकी व्यवस्थामें कई उलट-फेर हुए। एकमेंसे दूसरी व्यवस्था कायम की गई। कई क्रांतियां हुईं, लड़ाइयां हुईं। लोगोंका व्यर्थ संहार हुआ। आपने बहुत प्रयोग कर लिये; अब बस कीजिये। ज्यादा-से-ज्यादा अव्यवस्था और पीड़ा व्यवस्थापक वर्गने ही दी है। आपने काफी कोलाहल मचा दिया। अब मेहरबानी करके हट जाइये; तो हममें ज्यादा शक्ति आयेगी, दुःख मिट जायगा और सुख होगा।

व्यवस्थापक वर्ग कहता है, तुम्हारी व्यवस्थाकेलिए हमारी जरूरत है। हम कहने हैं, हमारी कौन-सी जरूरतें तुम पूरी करते हो? हमें भूख लगती है। परमात्माकी दी हुई जमीनमें हम खेती करते हैं। व्यवस्थापक वर्ग खेती नहीं करता। खेतीके द्वारा फसल पैदा करनेकी कला परमात्माकी कृपासे और दस लाख सालके अनुभवसे प्राप्त हुई है इसलिए हमारी भूख मिटानेके लिए तुम्हारी कोई जरूरत नहीं है। प्यास बुझानेकेलिए भी तुम्हारी जरूरत नहीं है। बारिश होती है, जलाशयोंमें पानी भर जाता है। इस तरह हमें जमीनमेंसे अन्न और आस्मानसे पानी मिल जाता है। अब रही हवा। उसके लिए भी व्यवस्थाकी जरूरत नहीं। परमात्माने हर एकको एक-एक नाक दी है। दस आदमियोंको मिला कर एक नाक नहीं दी। ऐसा तो नहीं होता कि एक आदमी अपनी नाकमें हवा बटोर ले और उसे दस आदमियोंमें बांट दे। आपस-आपसके व्यवहारकी भी वही बात है। नीतिशास्त्रसे हमन विवाह करके कुटुंब-संस्था बनाना सीखा है। संतोंने हमें पड़ोसी से प्रेम करना सिखाया है। इस प्रकार हमारी सारी जरूरतें पूरी हो जाती हैं।

राज्यव्यवस्थापकोंकेलिए अब बचता ही क्या है ?

सिर्फ एक वस्तु बाकी रह जाती है। किसानकी जितनी फसल होगी, उतनी सारी वह कैसे खायगा। आस्मानके पक्षी और जमीनके चूहे कुछ हिस्सा बंटा लेते हैं। लेकिन तो भी अन्नके ढेर लग जायंगे। किसान उनका क्या करेगा ? इसलिए किसानको बोझ कम करनेकी जरूरत है। और व्यवस्थापक-वर्ग उसकी पैदावारका कुछ हिस्सा इसीलिए ले लेता है। हम कहते हैं कि किसानके बोझकी फिक्र आप न कीजिये। वह कम अनाज पैदा करेगा। उसे आराम मिलेगा। उसके लिए उसे आपको टैक्स देने की जरूरत नहीं।

इस तरह जीवनके सभी कार्य व्यवस्थापक-वर्गके बिना ही संपन्न हो जाते हैं तब व्यस्थापक-वर्ग कहता है, कि हम आपको तालीम देते हैं, आपकी रक्षा करते हैं। इधरका सामान उधरले जानेमें मदद करते हैं।

इन कामोंकेलिए भी हमें व्यवस्थापक वर्गकी जरूरत नहीं है। बच्चा आस्मानसे तो नहीं टपकता। वह बे-मां-बापका नहीं होता। पैदा होते ही मांके स्तनमें उसके लिए दूध पैदा होता है। इस तरह मातासे उसे रक्षण मिलता है। माता ही उसे मातृभाषा सिखाती है। इस प्रकार उसे रक्षा और तालीम मिल जाती है। तालीमकेलिए उसे तीसरेके सुपुर्द करनेका सवाल ही कहां है ? हां, बच्चा अगर बिना मां-बापके पैदा होता, तो यह सवाल कठिन हो जाता। बच्चेको मां-बापसे जो शिक्षा मिलती है, उससे अच्छी शिक्षा और कहां मिल सकती है ? आज तो शिक्षाके नाम पर ढोंग-ही-ढोंग चलता है। अच्छी तालीम किसे मिली, इसका उपनिषदोंमें अच्छा वर्णन दिया है—'मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान्'। 'जिसके माता, पिता और आचार्य हैं, उसने उत्तम शिक्षा पाई है'। पहली दो बातें व्यवस्थापकों द्वारा नहीं मिलतीं। समाजमें ज्ञानी या गुरुका होना भी राज्यव्यवस्था पर निर्भर नहीं है। यह कोई नहीं कह सकता कि फलाना राज्य था, इसलिए अमुक ज्ञानी पुरुष पैदा हुआ। अकबरका राज्य था इसलिए तुलसीदास पैदा हुए हों, ऐसी बात नहीं है। सच्चे ज्ञानी स्वयंभू होते हैं। वे सृष्टिसे ज्ञान लेते हैं। वे

शिक्षण-संस्थाओंमें शिक्षा नहीं लेते; ईश्वरकी कृपासे ज्ञानी बनते हैं। खुद शिक्षण-शास्त्र ही कहते हैं कि सच्चे ज्ञानी शिक्षण-संस्थाओंके बाहर ही होते हैं।

तो फिर राज्यपद्धति क्या करती है ? वह तालीमका एक ढांचा बना देती है। हुक्मके मुताबिक कुछ बातें लड़कोंके दिमागमें ठूंसनेकी प्रणाली बना देती है। 'टू ऑर्डर' यानी 'हुक्मके मुताबिक'— माल तैयार करनेवाली पाठशालाएं कायम करती है। इंग्लेंड, रूस, अमेरिका, जर्मनी आदि सभी देशोंमें यही होता है। इस प्रकार सरकारी तालीम लोगोंको बुद्धिसे गुलाम बनानेके लिए होती है। जर्मनीमे लोगोंको सिखाया जाता है कि हेर हिटलरको ईश्वरका अवतार मानो। हिंदुस्तानमें सिखाया जाता है कि अंग्रेजोंका यहां आना जरूरी था। वे यहां अच्छी व्यवस्था कर रहे हैं। उत्तम कार्य कर रहे हैं। उनके आनेसे हिंदुस्तानका फायदा हुआ है। इस प्रकार अपने शिक्षा-विभागके द्वारा सरकार तालीमके कार्यमें बिगाड़ ही पैदा करती है। जितने नये-नये शोध और प्रयोग हुए हैं, सरकारके क्षेत्रके बाहर ही हुए हैं। पैस्टोलॉजी, फ्रेगल, मांटेसरी आदिके प्रयोग सरकारी महकमेके जरिये नहीं हुए।

तब वे अंतमें कहते हैं कि हम तुम्हारी रक्षा करते हैं। 'किससे रक्षा करते हैं' ? 'परकीय आक्रमणसे।' लेकिन हम पर परकीयों द्वारा आक्रमण ही क्यों होता है ? परकीय आक्रमणका यह भूत व्यवस्थापकोंने ही खड़ा किया है। अगर वे हट जायं, तो वह अपने-आप गायब हो जायगा। हम अपने यहांके रक्षकोंसे कहें कि आप हट जाइए। जापान, जर्मनी, इंग्लैंड और अमेरिकाके लोग अपने-अपने रक्षकोंसे कहें कि आप जाइए, तो विदेशी आक्रमण के होवेका डर नहीं रहेगा। किसी देशकी आम जनता दूसरे देशकी आम जनता पर हमला थोड़े ही करने वाली है ? जापानके किसान हिंदुस्तान पर हमला करने थोड़े ही जायंगे ? आज सुनते हैं कि अमेरिकाके सवा दो लाख आदमी यहां आये हैं। वे सेनामें भर्ती कर-करके यहां लाये गये हैं। क्योंकि अमेरिकाकी रक्षाकेलिए हिंदुस्तान भी एक फ्रण्ट (मोर्चा) है। आज तो सारा संसार ही 'फ्रण्ट' बन रहा है। इस फ्रण्टकी भी कोई सीमा है ? ज्योतिषशास्त्रके अनुसार कभी-कभी पृथ्वी भी मंगलकी कक्षामें आ जाती है। तब इन दोनों ग्रहों-

के टकरा जानेका डर रहता है। इस दृष्टिसे तो सारा त्रिभुवन ही हमारा मार्चा है। इसका क्या इलाज ? एक ही इलाज है कि हर एक अपनी-अपनी जगह शांतिपूर्वक अपना काम करता रहे और किसीसे न डरे। अपनी कक्षा-से बाहर जानेकी किसीको जरूरत ही नहीं है। रक्षाका यही सबसे सफल उपाय है। यह रक्षाका प्रश्न एक दुष्टचक्र है। यह हौवा व्यवस्थापकोंका ही खड़ा किया हुआ है। इस बहाने वे अपने अस्तित्वको हम पर लादनेकी कोशिश करते हैं। वे कहते हैं, तुमको दूसरोंके आक्रमणसे बचानेके लिए हमारी जरूरत है। हम कहते हैं व्यवस्थापकोंका होना ही आक्रमणकी जड़ है।

हमारी रक्षा करनेके बहाने वे फौज रखते हैं। आक्रमण तो कभी-कभा होता है। लेकिन सेनाका उपयोग प्रायः हमको दबानेकेलिए किया जाता है। हम कहते हैं, 'आप हमसे अधिक बुद्धिमाम हैं तभी तो हमारे व्यवस्थापक हुए !' अगर हम आपकी बात न मानें, तो हमें समझाइए। उसके लिए लश्करकी क्या जरूरत ? आप हमारे मां-बाप-जैसे मार्गदर्शक हैं। अपनी बात हम पर लादनेकेलिए आप लश्करकी सहायता क्यों लेते हैं ? बाप अपने बच्चेको कोई बात समझाना चाहे, तो दोनोंके बीचमें एक सिपाहीकी क्या जरूरत ?

शिक्षक अगर लड़कोंसे अधिक बुद्धिमान है, तो बुद्धिहीन लड़कोंको अपनी बात समझानेकेलिए वह क्या अपने पास एक सिपाही रखेगा ? लेकिन होता तो ऐसा ही है। वह अपने पास एक निर्जीव सिपाही, एक छड़ी, रख लेता है। बुद्धिमान शिक्षकका उसके लड़कोंसे संबंध रखनेकेलिए निर्बुद्धि और निर्जीव छड़ी का उपयोग कैसे उपयुक्त हो सकता है ? लेकिन हर एक दर्जे (क्लास) में वह बराबर चलता है। कहा जाता है कि खाने में अगर थोड़ी-सी मिर्च हो तो खाना जल्दी हजम हो जाता है। उसी तरह छड़ीके साथ शिक्षण दिया जाय तो जल्दी गले उतरता है। बड़े आश्चर्यकी बात है कि इस तरहकी दलीलें देकर शिक्षणमें छड़ी का और राज्यशास्त्रमें लश्करका समर्थन किया जाता है।

अगर व्यवस्थापक वर्ग बुद्धिमान है, तो समाजमें जो दूसरे दो-चार बुद्धि-मान व्यक्ति होंगे, उन्हें पहचाननेकी अक्ल उसमें होगी। वह उन्हें और उनके

द्वारा जनताको समझानेकी कोशिश करेगा। उनकी समझमें न आवे, तो फिर समझायगा। बार-बार समझाने पर भी समझमें न आवे, तो सब्र करेगा। सब्र भी तो कोई चीज है ? लोगोंकी समझमें जितना आये, उतनी ही व्यवस्था करेगा।

लेकिन हमारे व्यवस्थापक तो समझानेकी कोशिश नहीं करते। डंडोंसे बातें करते हैं। इसीलिए उन्हें लश्करकी जरूरत जान पड़ती है। इससे स्पष्ट है कि इन व्यवस्थापकोंकी व्यवस्था लोगोंने कबूल नहींकी है। वे उसे जबर-दस्ती लादना चाहते हैं। लेकिन वह खुलकर नहीं कह सकते। इसलिए बहाना बताते हैं कि हम उन्हें दूसरोंके आक्रमणसे बचानेकेलिए लश्कर रखते हैं।

रक्षणका यह सही उपाय नहीं है। सही उपाय एक ही है। वह यह कि लोग बुद्धिपूर्वक एकत्र होकर शांतिपूर्वक अपना-अपना काम करें, हिल-मिलकर रहें और व्यवस्थापकोंसे कहें कि आप हट जाइए। कम-से-कम हिंदुस्तानके लिए आज ही वह समय आ गया है। हमारे व्यवस्थापकोंको अब फौरन हट जाना चाहिए। हमने भी व्यवस्थाके सिद्धांत अनुभवसे सीखे हैं। हम अपनी करतूतसे उतनी अव्यवस्था नहीं करेंगे, जितनी कि व्यवस्थापकोंने की है। इतना ज्ञान तो हमें है। आपकी फौज, अदालतें, टैक्स, वगैरासे हमारा काम बिगड़ता है। इनके अभावमें हमारा कुछ नहीं बिगड़ेगा। हमारे पास जमीन है, आस्मान है, नाक है, गला है और भगवान् है। हम अपनी व्यवस्था कर लेंगे। यह साफ शब्दों-में कह देनेका मौका आज ही आया है। कम-से-कम हिंदुस्तानकेलिए तो आ ही गया है। दुनियाके दूसरे राष्ट्रोंके लिए भी आया है। लेकिन वे जब महसूस करेंगे, तब करेंगे।

सवाल उठाया जाता है कि अगर अंग्रेज चले जायँ, तो हिंदुस्तान जापानके हमलेका मुकाबिला नहीं कर सकेगा। मैं कहता हूं, कर सकेगा। लेकिन फिर जापानका हमला होगा ही क्यों ? जापान तो इंग्लैंडका शिष्य बन रहा है। साम्राज्यवादका गुरु तो इंग्लैंड है। आज ब्रिटिश लोग कहते हैं कि अब हम साम्राज्यवादको नहीं मानते। श्रीमती रूजवेल्ट कहती हैं कि अब साम्राज्यवादके दिन लद चुके हैं। क्यों भाई, क्या इसका भी पहलेसे कोई कैलेंडर बना रक्खा

था ? क्या इंग्लैंडकी यह प्रतिज्ञा थी कि उन्नीस सौ बयालीसतक ही हम साम्राज्यवादी रहेंगे, बादमें साम्राज्य छोड़ देंगे ? यह विचार आज ही क्यों सूझा ? मलाया और सिंगापुरमें जो अनुभव हुआ उसका यह परिणाम है। मलायामें इन लोगोंने देखा कि वहांके लोग कोई मदद नहीं करते, जापानियोंसे मिल जाते हैं। इतने दूर-दूरके देश सम्हालना मुश्किल हो जाता है। इसलिए अब ये कहने लगे हे कि अब साम्राज्यवादके दिन बीत गये हैं।

लेकिन जापान कहता है कि यहां भी 'मुन्रो डॉक्ट्रिन' लागू करो। मुन्रो डॉक्ट्रिनके माने हैं लूटनेमें स्वदेशी धर्म। जापानके लिए वह एक अच्छा सहारा हो गया है। वह कहता है, कहां मलाया और कहां इंग्लैंड ? जावा पर डच लोगोंका राज्य नहीं होना चाहिए। लूटनेके लिए इतनी दूर नहीं जाना चाहिए। यहींतक इनका स्वदेशी धर्म पहुंच पाया है।

इंग्लैंडने देख लिया कि इतने दूरके देश सम्हालना मुश्किल हो जाता है। मलायाके प्रकरणसे वह डर गया है। वह कहेगा, हम डरे नहीं, सावधान हो गये हैं। लेकिन डर और सावधानीकी सीमा-रेखा ठहराना मुश्किल है। मलायामें जो अनुभव हुआ वही ब्रह्मदेशमें हो रहा है। हिंदुस्तानमें भी वही होनेका डर है। अब उन्हें इंग्लैंडकी रक्षाकी पड़ी है। वे समझ गये हैं कि हिंदुस्तानको बचानेकी शक्ति उनमें नहीं है। बेचारा वेवेल तो साफ-साफ कहता है कि हिंदुस्तानका किनारा इतना बड़ा है कि उसकी रक्षा हम नहीं कर सकते। हिंदुस्तनियोंसे भी आशा नहीं कर सकते। क्योंकि उनके साथ बड़ा दुर्व्यवहार किया है।

कोई साम्राज्य अनादि-अनंत नहीं है। लेकिन साम्राज्यवादका यह स्वभाव है कि वह अपनी प्रतिमा, अपने ही आकार और शक्लकी विरोधी शक्ति, पैदा करके मरता है। एक साम्राज्यकी संतान दूसरा साम्राज्य होता है। उसके बाद तीसरा साम्राज्य आता है। इस प्रकार साम्राज्यवाद बहु-संतानशाली है। इंग्लैंडके बाद अब जापान आना चाहता है। इन दोनोंकी मुठभेड़में बेचारे हिंदुस्तानका ख़ात्मा होनेका डर है।

इसलिए अब हमें अपने व्यवस्थापकोंसे ही जान छुड़ानी चाहिए। सिंगापुर-

में यह साबित हो चुका है कि उनमें रक्षा करनेकी सामर्थ्य नहीं है। इतने बड़े दिग्विजयी कहलाते थे। कहते थे, सिंगापुर ऐसा मजबूत गढ़ है कि यावच्चंद्र-दिवाकरौ बना रहेगा। परीक्षित भी ऐसा जबरदस्त किला नहीं बना सका था। वह सात दिनतक किलेके अंदर ऋषिसे ज्ञान-चर्चा करता रहा। मृत्युने उसका वहां भी पिंड नहीं छोड़ा। आप भी दुनियाकी रक्षाके ठेकेदार बनकर यावच्चंद्र-दिवाकरौ अपना साम्राज्य कायम रखनेकी बातें करते थे। लेकिन परीक्षितकी तरह आपका किला भी आठ-दस रोजमें ढह गया। आपको हटना पड़ा। अंग्रेजोंको यह अनुभव हो गया कि दस-दस हजार मीलकी दूरीसे जनताकी मददके बिना लड़ाई नहीं लड़ी जा सकती। अंग्रेज कहते आये हैं कि हम आखिरतक लड़ेंगे, हरगिज नहीं हटेंगे। लेकिन हांगकांग और सिंगापुरमे हटना ही पड़ा। आखिरतक लड़नेवाले थे, तो हटनेका मौका ही क्यों आया? वे कहते हैं कि हम आखिरतक लड़ेंगे। शायद उनका यह मतलब है कि हम जब पीछे हटेंगे तभी हटेंगे, उससे पहले नहीं हटेंगे। इसके सिवा दूसरा कोई मतलब मुझे तो नहीं नजर आता।

फिर कहने लगे कि रंगूनसे हटते-हटते उस शहरमें ऐसी आग लगा दी कि चालीस मीलपरसे तमाशा देख सकते थे। रंगून किसके बापका था? इतनी संपत्ति तबाह हो गई। किसका नुकसान हुआ?

क्रिप्स साहब आये। एक योजना लेकर आये। कहने लगे इसके साथ शादी कर लो। उसे हमारे पल्ले बांधकर हमें लड़ाईमें शामिल कराना चाहते थे। उनकी यह चाल थी कि इस तरह हिंदुस्तानका अनुमोदन मिलनेसे लड़ाईको नैतिक योग्यता मिल जायगी। लेकिन असली लेने-देनेकी बात उधारीकी थी। कहने लगे, लेना-देना लड़ाईकी धूमधाममें नहीं हो सकता। व्यापारियोंका एक नियम है—देते वक्त 'पहले लिख, पीछे दे, और लेते वक्त पहले ले, पीछे लिख।' इसी व्यापारी सूत्रसे क्रिप्स काम लेना चाहता था। लड़ाईके बाद जो कुछ देना है, दे देंगे, तबतक हम जैसे नचावें वैसे नाचो। कांग्रेसको यह मंजूर नहीं हुआ। गांधीजी फौरन ताड़ गये।

इसलिए गांधीजी अब लेने-देनेकी बात नहीं करना चाहते। वे कहते हैं

भगवान्ने यह जमीन हमें दी है, मेहरबानी करके आप यहांसे हट जाइए। तब वे वही पुराना अराजकताका सवाल उठाते हैं। वे तो अव्यवस्था और अराजकताका डर दिखा-दिखाकर ही सत्ता चलाते आये हैं। इसीके भरोसे व्यवस्थापक-वर्ग जनतापर अपना सिक्का जमाता आया है। भविष्यके बड़े भयानक चित्र खींचता है। कहता है, हम चले जायंगे तो हिंदुस्तानमें बड़ा भीषण युद्ध होगा। हमें उसका कोई डर नहीं है। हिंदुस्तानियोंको सोचना चाहिए कि अराजकतासे हमारा और क्या नुकसान होनेवाला है? आजकी व्यवस्था ही पूरी-पूरी अव्यवस्था है। इसके मुकाबिलेमें अराजकता भी व्यवस्था ही होगी।

इसलिए व्यवस्थापक वर्गसे हमारा अनुरोध है कि आप हमारी फिक्र न कीजिए। अगर आप हट जायंगे, तो आप भी बचेंगे और हम भी बचेंगे। आप इसलिए बचेंगे कि हिंदुस्तानको छोड़नेसे आपकी नैतिक योग्यता बढ़ जायगी, साम्राज्यवाद नष्ट होगा और दुनियाका भला होगा। शायद यूरोपमें भी लड़ाई बंद हो जायगी। और अगर न हुई, तो आप यूरोपको सम्हालिए। दूरकी चिंता न कीजिए। अपनी सारी शक्ति यूरोपमें केन्द्रित कीजिए। कृपा करके हमारा पिंड छोड़िए। हम अपने यहां ज्यादा-से-ज्यादा व्यवस्था करनेकी कोशिश कर लेंगे।

बापू यही कह रहे हैं। उनकी योजना आगे चलकर क्या आकार लेगी, सो तो मैं नहीं जानता। लेकिन यह महान् वस्तु है। यह सारी दुनियाके लिए लागू है। केवल उसका आरंभ हिंदुस्तानसे हो रहा है। दुनियामें व्यवस्थापकोंका तांता-सा लग रहा है। वह जनताके गलेमें तांतके समान प्राण-घातक हो रहा है। सारी दुनियाके व्यवस्थापक अगर अपनी-अपनी जगहसे हट जायं, तो दुनियामें शांति होगी और मानवताका कल्याण होगा।[१]

(सर्वोदय : जून, १९४२)

---

[१] वर्धामें राष्ट्रीय युवक संघ, कांग्रेस सैनिक दल और प्रांतीय नगर संरक्षक दलके समक्ष (२१ मई, १९४२ को) दिया गया भाषण।

: १६ :

हमारी जीवन-दृष्टि

सत्याग्रह-आश्रम, साबरमतीके सेक्रेटरी श्रीछगनलालजी जोशीने मुझे एक पत्रमें लिखा कि 'तुम्हारे ये जो दो श्लोक[1] हैं वे मुझे बहुत पसंद आये और मैंने उन्हें अपनी प्रार्थनामें शामिल किया है।' वे श्लोक मराठीमें हैं क्योंकि उन्हें लिखते समय मुझे उनके प्रचारकी कल्पना नहीं थी। मैंने वे सिर्फ अपने लिए लिखे थे। इसके सिवा मुझे गुजराती या हिंदी, इतनी—कि जिसमें काव्य-रचना अथवा पद्य-रचना की जा सके—आती ही कहां है? उन्हें लिखकर बहुत दिनोंतक मैं स्वयं उनका केवल चिंतन ही करता था। फिर उन्हें मैंने दोनों समयकी प्रार्थनामें शामिल किया। तत्पश्चात् कन्याश्रमकी एक लड़कीने वे दोनों श्लोक अपनी जरूरत बतलाकर मुझसे लिये। तब वे वहां प्रार्थनामें शामिल हुए। फिर उनका सब जगह प्रचार हुआ। इस सारी प्रस्तावनाका कारण यह है कि मुझे जो कुछ कहना है उससे मैं इसका संबंध बतलाना चाहता हूं।

ये दोनों श्लोक हमारी विचारसरणिको प्रकट करनेवाले हैं। हमारी विचारसरणि यह है कि संपूर्ण जीवन उपासनामय है। यह विचार नया नहीं है, प्राचीन ग्रंथोंमें भी पाया जाता है। और मुझ तो अपने विचारोंको प्राचीनका जितना आधार मिले उतना दिखानेकी आदत होनेके कारण इसे कोई नया कहे या यह कहे कि इसे प्राचीनताका आधार नहीं है तो मैं उस कथनको बिलकुल ही नहीं मान

---

[1] अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य असंग्रह।
शरीर-श्रम अस्वाद सर्वत्र भयवर्जन॥
सर्वधर्मीं समानत्व स्वदेशी स्पर्शभावना।
हीं एकादश सेवावीं नम्रत्वे व्रतनिश्चये॥

सकता। उक्त विचार मुझे पीछे ठेठ वेदोंतक दिखाई देता है । उपनिषदों मे तो है ही, किंतु गीतामें वह बिलकुल स्पष्ट दिखाई देता है । इसीलिए तो उसे मैंने "गीता मैया" कहा है। मनुष्यका इस दुनियामें अधिक-से-अधिक प्रेम और हृदयका नाता दिखानेवाले शब्दका मैंने गीताके लिए उपयोग किया है।

यद्यपि जीवन समूचा ही उपासनामय है यह विचार प्राचीन ग्रंथोंमें होनेपर भी मध्य युगमें इसमें फर्क पड़ गया ऐसा जान पड़ता है। कारण, मध्यकालमें यह विचारसरणि हो गई थी कि कर्म बंधनकारक है, इतना ही नही बल्कि मारक भी है। कर्मका जितना त्याग किया जा सके उतना करो, केवल भिक्षादिक, जो बिलकुल ही आवश्यक हो, उतना ही करो, इत्यादि बातें थीं। भगवान्ने गीता-म बतलाया है कि कर्मोंमे बंधन जरूर है और कर्म करने हैं तो उनमसे कुछ त्यागने भी पड़ेंगे। परंतु उस मध्यकालमें उस विचारकी मर्यादा ध्यानमें नहीं रक्खी गई, कर्मके संबंधमें गलत कल्पना बन गई । मध्ययुगके किसी साधारण अच्छे संतकी भावनाकी जांच की जाय तो यह पाया जायगा कि वह कपड़े सीयेगा, खेती करेगा, पर उसके पीछे विचारधारा यह दिखाई देती है कि यह सब पेटके लिए करता हूं, न करूं तो दूसरों पर बोझ पड़ता है, जो पड़ना उचित नहीं है। पर यह अधिक बुरा खयाल है । वही भगवतसेवा है यह नहीं समझा जाता था। भावना सारी यह थी कि जो कुछ भजन, पूजन, जप किया जाता है वह तो हरि-सेवा है, और दिनमें किया हुआ काम केवल पेटके लिए है। नतीजा इसका यह हुआ कि दिनमें, व्यवहारमें कुछ अनुचित किया हुआ भी जायज समझा जाता है। शामको या सवेरे पूजापाठ कर लिया, तो बस काफी है। सवेरे के रामपहरमें झूठ मत बोलो, दूसरे वक्त बोलनेमें हर्ज नहीं, इत्यादि कल्पनाएं लोगोंमें रूढ़ हो गईं।

भक्ति-मार्गके भागवत, तुलसी-रामायण, तुकारामगाथा, ज्ञानेश्वरी इत्यादि ग्रंथ बहुत ऊंचे हैं। मुझपर उसका बड़ा असर पड़ता है । कभी किसी समय हृदय बिलकुल खिन्न हुआ अथवा मन उत्साहरहित हो गये—मुझे ऐसी स्थिति प्रायः बहुत कम आती है—तो उस समय तुकारामका कोई अभंग, अथवा ज्ञानेश्वरीकी चार ओवियां अथवा रामायण की चार चौपाइयां पढ़ीं कि मन

प्रसन्न हो जाता है। इतना उनका मुझपर असर होता है। तथापि मुझे ऐसा जान पड़ता है कि उन ग्रंथोंको पचाकर हमें समाजको नया दूध तैयार करके देना चाहिए। जैसे गाय चरी, (कड़वी) खाकर दूध देती है, वैसे ही हमें गायका काम स्वीकार करके उपर्युक्त चरी—जो चरी ही की तरह पौष्टिक और मीठी है—खाकर दूध तैयार कर देना चाहिए। क्योंकि वैसा न किया जायगा तो भक्तिके साथ बहुत-सी न पचनेवाली या हमें न रुचनेवाली चीजें भी आ जायंगी, जो किसी तरह भी हमें सहेंगी नहीं। उसके लिए हमें नये ग्रंथ भी लिखने होंगे। मुझे जब ऐसा लगा तभी मैंने गीताई[1]की रचनाका प्रयत्न किया और तत्त्व-ज्ञानके विषयमें अभी कुछ लिखनेका विचार है। वह शायद पूरा हो, संभव न भी हो।

आचरणके बिना भक्ति झूठी है, वह व्यर्थ हो जाती है। आज हालत यह है कि ऊपर 'श्री हरि' लिखकर नीचे जमाखर्चकी बहीमें ५०) देकर १००)के कागजपर सही कराने जैसे जमाखर्च करनेमें लोगोंको कोई अटपटापन नहीं मालूम होता। अतः भक्तिके साथ आचरणकी आवश्यकता है।

आजके भक्त अथवा साधुके नियममें कल्पना यह है कि वह कम खानेवाला और काम भी कम ही करनेवाला होना चाहिए। साधुको ज्यादा काम करना ही नहीं चाहिए। कोई साधु अगर बर्तन मांजने लगा तो लोग कहते हैं कि साधुको बर्तन मांजनेसे क्या सरोकार! हमें समूचा जीवन भक्तिमय, उपासनामय करना पड़ेगा। हमारे ये व्रत मेरे मनसे आज तक के हिंदू-धर्म का दूध हैं। इसके आगेके सौ वर्षोंमें उसका मक्खन नहीं होगा सो नहीं है। होगा भी अथवा जैसे उन पुराने ग्रंथोंमें—विचारोंमें गंदगी घुस गई है, वैसे ही इसमें भी घुस आई तो अगली पीढ़ी उसे निकालेगी भी। पर आज हमें उसकी फिक्र करनेकी जरूरत नहीं है। आज तो हम उन व्रतोंको भक्तिपूर्वक अमलमें लावें, समूचे जीवनको उपासनामय बनावें, जो-जो व्यवहार हम करें, फिर चाहे वह बाजारका काम हो या रसोई बनानेका अथवा चक्की पीसनेका, सबको भगवत-सेवा समझकर करें तो हमारा काम खतम हुआ। यह हमारा ध्येय होना चाहिए।

---

[1] गीताका मराठी समश्लोकी अनुवाद।

: २० :

विविध विचार

१—सामूहिक प्रार्थना

व्यक्ति और समूहकी उन्नतिमें कोई भेद नहीं। जब तक सामूहिक उन्नति नहीं हाती, तबतक व्यक्तिगत उन्नति भी संभव नहीं। जिस प्रकार एक साफ-सुथरे घरके चारों ओर प्लेग फैल जाय, तो वह साफ-सुथरा घर भी अछूता नहीं रह सकता उसी प्रकार वायुमण्डल दूषित होने पर कोई व्यक्ति उसे दोषसे बचा नहीं रह सकता। अत: प्रार्थना व्यक्तिगत न होकर सामूहिक होनी चाहिये। हमारा वैदिक-धर्म भी सामूहिक प्रार्थनाके आधार पर अवलंबित है। गायत्री मंत्र मे प्रार्थनाकी गई है कि हम सब सवितादेव की प्रार्थना करते हे; वे हमारी बुद्धिको शुद्ध करें। यह सामूहिक प्रार्थना है, न कि व्यक्तिगत; क्योंकि ऐसा नहीं है कि, मैं प्रार्थना करता हूं और मेरी बुद्धि शुद्ध करें।

हमारी प्रार्थना तो सामूहिक होनी ही चाहिए और उसमें स्त्रियां और बालक-बालिकाओंको भी सम्मिलित होना चाहिए। प्राय: देखा जाता है कि प्रार्थनामें स्त्रियां सम्मिलित नहीं होतीं। एक गांवमें मैंने देखा कि प्रार्थना में बहुत-से लोग एकत्र हुए थे; किंतु स्त्री एक भी नहीं थी। कारण पूछने पर मालूम हुआ कि केवल एक बाई है, जो प्रार्थना में आना चाहती है, किंतु अकेली आना उसे पसंद नहीं। प्रार्थनामें स्त्रियोंको भी सम्मिलित होना चाहिए। लोग उन्हें शृंगार की वस्तु समझ कर छोड़ देते हैं। किंतु यह मानना भूल है। संपूर्ण गांवके, या किसी संस्थाके, या एक विचारके, या एक परिवारके सभी व्यक्तियोंको मिलकर प्रार्थना करनी चाहिए। प्रार्थनाका स्थान भी निश्चित कर लेना चाहिए। सामूहिक प्रार्थना का आयोजन हरिजन-संघ, हरि-जन-छात्रावास या ऐसे ही अन्य सार्वजनिक स्थानों पर करना चाहिए, जिससे उसमें हरिजन तथा अन्य लोग अधिक संख्यामें सम्मिलित हो सकें। प्रार्थना

प्रारंभ करनेके पूर्व घंटा या शंखकी ध्वनि हो जानी चाहिए, जिसे सुनकर आसपास के लोग प्रार्थनाके लिए समय पर एकत्र हो जायं।

(हरिजन सेवकसे)

२—संतोंका बाना

जगत् ही जो ठहरा; लोग चटसे कह गुजरते हैं, कि तलवारसे तो तलवार लेकर ही लड़ा जा सकता है। उसके बिना काम नहीं चलता। किंतु यह उनकी वाणी है, जिनके पास तलवार नहीं है। कितनी ही बार जो वस्तु हमारे पास नहीं होती, हम उसकी बाजार दर बढ़ा दिया करते हैं। हमारी दशा भी वैसा ही है। हमारे मनमें तलवार क्यों है ? इसलिए कि वह हमारे म्यानमें नहीं है। यदि म्यानमें तलवार होती तो मनमें उसके लिए मोह क्यों होनेवाला था ?

मोह न हुआ होता, और वह इसलिए, कि सच्ची बात हमारी समझमें आ गई होती। यदि हमारे तलवार-बहादुर पूर्वज हमारे मुँहसे यह सुन लेते, कि तलवारसे तलवार लेकर लड़ा जा सकता है, तो उनकी हँसी रोके न रुकती। इसलिए कि उन्हें लड़ाईका अनुभव था। उन्हें मालूम था कि लड़ा 'ऐसे' जाता है। उन्होंने हमें स्वाभाविक समझा दिया होता कि 'बाबा, तलवार से ढाल लेकर लड़ा जाता है।' जिस समय लोग 'त' कहनेसे तलवार समझ जाते थे, उस समय लोगोंको लड़नेकी यह कला मालूम थी। अब तो हम 'त' कहनेसे 'तंदुल-मट्ठा' समझते हैं, तब हमारे गलेमें यह बात कैसे उतरे ?

हम कहते हैं, जैसेको तैसा होना चाहिए। मगर हम मतलब समझा ही कहां करते हैं ? जैसेको तैसेका अर्थ तो इतना ही है कि जितनी पैनी हमारे दुश्मनकी तलवार हो उतनी ही सख्त हमारी ढाल हो। तब तलवार से तलवार लेकर लड़नेकी बातको, जैसेको तैसा कहें, तो यह क्या हमारी मंदबुद्धिका द्योतक नहीं है ? तलवारसे तो ढाल ही लेकर लड़ा जा सकता है, पर ढालके सहन करनेकी

शक्ति तलवारकी प्रहारक शक्तिसे हार खानेवाली नहीं होनी चाहिए। शत्रुके प्रश्नोंमें यदि पांच सेर क्रोधके अंगारे भरे हों, तो हमारे पास भी पांच सेरसे कम प्रेमका पानी न होना चाहिए। शिक्षक अपने बालकोंके अज्ञानसे लड़ता है। यदि वह जसेको तैसाका मनमाना तत्त्व-ज्ञान ग्रहण कर ले, और बच्चोंसे कहने लगे कि "तुम्हारी समझमें यह जरा-सी बात नहीं आती, तो मेरी समझमें क्यों आनी चाहिए ? और यदि तुम मेरे प्रश्नोंका उत्तर नही देते, तो मै फिर तुम्हारे प्रश्नोंका उत्तर क्यों दूं ? तुम अगर अज्ञानका बोझ ढो रहे हो, तो मैं ही अकेला ज्ञानका बोझ क्यों ढोऊं ?" तो इसका उत्तर यही है कि बच्चे अज्ञानका बोझ ढो रहे हैं इसीलिए तुम्हें ज्ञानका बोझ ढोनेकी खास आवश्यकता है। अज्ञानसे ज्ञान लेकर ही लड़ा जा सकता है। जैसेको तैसेका अर्थ यहां केवल इतना ही है, कि तोड़से जोड़ मिलनी चाहिए। हमारे सामनेके आदमीका अज्ञान जितना गहरा हो हमारा ज्ञान भी उतना ही गंभीर होना चाहिए। यही कारण है कि ज्ञानकी मापपर जीनेवाले देशोंमे अज्ञानी-से-अज्ञानी बालकोंकी श्रेणीको पढ़ानेके लिए उच्च-से-उच्च ज्ञानवाले शिक्षक रक्खे जाते है। पुराण-कालके युद्धोंमें भी तो एक बात सुनी जाती है। यदि एक मेघके अस्त्र फेंकता था, तो दूसरा उसके बदले मेघके अस्त्र नहीं फेंकता था, वह तो वायुके अस्त्र फेंकता था। बादलोंकी चढ़ाईमें बादल ही भेजे कि बादलोंपर बादलका वर्ग हुआ और हुआ गहरा अंधकार। और वायु भेजी कि एक-एक करके बादल तितर-बितर। अज्ञानके मस्तकपर अज्ञानके ही कीले ठोंकनेसे फायदा ? अज्ञानको तो ज्ञानसे दूर करना चाहिए।

जिसे व्यवहारकी थोड़ी-सी भी जानकारी है, उसे इसबातके समझनेमें कुछ भी अड़चन नहीं पड़नी चाहिए। अंगारे बुझाने हों तो पानी डालना चाहिए। अंधेरा हटाना हो तो दिया जलाना चाहिए। यह वैध विरोध किसकी समझमें नहीं आता ? और यदि ये बाते समझमे आती हैं, तो संतोंकी यह वाणी क्यों समझमें नहीं आती, कि क्रोधको प्रेमसे जीतना चाहिए; बुराईको भलाईसे जीतना चाहिए; कंजूसपनेको दरियादिलीसे जीतना चाहिए; खोटेको खरेपनसे जीतना चाहिए ? ये सब भी व्यवहारकी बातें हैं। हमारी समझमें तो तब आवें, जब

हम विचार करें। हम अपने ही मनमें अगर खोज करें, तो हमें सब बातोंका पता चल जाय।

(ह० से०, २ जून १९३४)

३—निष्ठाकी कमी

गांधी-युगके साहित्यकी हलचलमें अनेक गुण हैं; पर एक दोष भी है। जितने उत्साहसे, प्रेमसे, निष्ठासे मध्य युगमें संत प्रचार करते थे, मुझे नहीं दीखता, कि हम उसी निष्ठासे विचार-प्रचारका कार्य कर रहे हैं। जबरदस्तीसे, रिश्वतसे, अहंकारसे, उत्साहके अतिरेकसे और जल्दबाजीसे मिश्नरीकी तरह एकांगी, अंधवृत्तिकी तरह आप विचार-प्रचारका कार्य करें, ऐसी बात मैं नहीं कहता। वह बुरी है, परंतु निष्ठावंत संत, गांव-गांवमें जाकर हरि-नांम ध्वनिकी गंज मचा देते थे, वह हम नहीं करते। वैसा निष्ठावंत प्रचार वर्त्तमान हलचलमें नहीं है। ये बातें मुझपर भी लागू होती हैं। संतोंका-सा उत्साह आज चाहिए। आजकी हलचलमें योग्यताकी कमी नहीं। उद्धारका जो कार्य संतोंने किया उसी कार्यको आगे खींचा जा रहा है। परंतु संतोंमें जो निष्ठा थी वह असीम थी—वह उनमें समाती न थी—वह फूटकर बाहर फैलती थी। उस तीव्रताकी, उस वेगकी निष्ठा आज नहीं मिलती। पानी कहीं-न-कहीं रुक गया है। बरसता है, पर बह नहीं रहा—वह फैलता नहीं, जलाशय नहीं बनाता, प्रवाहित नहीं होता, खेती हरी-भरी नहीं होती।

नारद तीनों लोकमें फिरता। वह नीचे दरजेके लोगोंमें घूमता, मध्यम श्रेणीके लोगोंके बीच जाता, उच्च श्रेणीके लोगों तक पहुंचता, यही तो लोक-समुदाय है। एक मित्रने मुझसे कहा कि आजके समाचार-पत्र नारद हुए। परंतु ये नारद, नारद न हुए के बराबर हैं। इसम पैसे देनेकी व्याधि है, समझ लेनेकी उपाधि है। परंतु देवर्षि घर-घर अपने आप जाता, मधुर वाणीमें अपने विचार लोगोंके गले उतारता और फिर उन्हींका आभार मानता। जो विचार सुनते, उन्हींका वह उपकार मानता। नारदको मालूम होता कि उसे आज

भगवद्दर्शन हुए । आज देवर्षिका वही काम ठीक-ठीक नहीं हो रहा है । हो कसे, हमारे हृदयमें वह प्रतिबिंबित ही नहीं । खादी, अस्पृश्यता-निवारण और राष्ट्रीय विचार, सबके प्रचारके लिए व्यक्ति चाहिए, किंतु इन विचारोंका तत्वज्ञान ही हमारे पास काफी नहीं—हमारी जानकारी भी पूरी नहीं । जानकारी न होना अज्ञान है, किंतु जानकारीकी प्राप्तिमें लापरवाह रहना दोष है । बापूने अभी एक छोटा-सा लेख लिखा था । उस लेखका आशय था कि हिटलर भी जर्मनीमें यंत्रोंके महत्त्वको कम कर रहा है और मध्य युगके समान ही वर्तमान युगमें वह घरू उद्योग-धंधोंको प्रोत्साहन दे रहा है । मैंने एक भले कार्यकर्त्तासे पूछा "आपने वह लेख पढ़ा है ?" उन्होंने उत्तर दिया, 'नहीं' । कितनी ही बार ज्ञानको सम्मुख पाकर हम कह देते हैं "नया क्या होगा !" यह कल्पना ही घातक है । महाभारतके 'वन-पर्वमे' एक ऋषि धर्मराजके पास आये । धर्मराज वनमें दुःख भोगते थे । धर्म, दुःखकी घड़ियों की उस कहानीको पाते रहते, किंतु करुणामय ऋषिको पाकर धर्मका दुःख वाणीके द्वारसे बह निकलता । वह कहते—"ऐसे दुःख किसीने न भोगे होंगे ।" ऋषि कहते "राम और सीताको भी ऐसा ही वनवास भोगना पड़ा था ।" धर्म कहते, "जरा वह रामकी कथा तो कहिए ।" यदि इन बातोंपरसे कोई कहे कि धर्मको रामकी कथा मालूम न थी, तो उस व्यक्तिकी इसे अज्ञान-सीमा ही समझनी चाहिए ! धर्मको दीखता कि ऋषिके मुखसे पुनः रामकी उज्ज्वल कथा सुननी चाहिए । पानी वही है, परंतु जो 'गोमुख'में आया, कि अधिक पवित्र हुआ ।

(हु० से०, ३० मार्च १९३४)

४—सेवकका पाथेय

वर्धाका ग्राम-सेवा-मंडल, वर्धा तहसीलमें ग्राम-सेवाके कार्यका छोटे पैमाने पर एक व्यवस्थित प्रयोग कर रहा है । इस संस्थाकी ओरसे वर्धा तहसीलके १२ गांवोंमें काम हो रहा है । इस वर्षकी अपनी वार्षिक बैठकमें उसने काफी वाद-

विवादके बाद नीचे लिखा एक प्रस्ताव स्वीकार किया—

"ग्राम-सेवा-मंडलकी ओरसे देहातमें काम करनेवाला प्रत्येक मनुष्य (१) प्रतिदिन कम-से-कम आठ घंटे शारीरिक श्रम करनेवाला और प्रतिदिन चार आनेमें अपना जीवन-निर्वाह करनेकी तैयारी रखनेवाला होना चाहिए; और (२) किसी भी परिस्थितिमें, कहींसे भी सपरिवार पूरा काम करनेवाले प्रत्येक व्यक्तिके आठ आना प्रतिदिनसे अधिककी अपेक्षा न रखनेवाला होना चाहिए।

"१ नवंबर, १९३५ से एक वर्षतक जो ग्राम-सेवक चर्खासंघके भावसे सूत कातकर जितनी मजदूरी कमायेगा उतनी ही अतिरिक्त मदद और लेनेका उसे अधिकार रहेगा।"

मुझसे यह कहा गया है कि इस प्रस्तावपर मैं अपना भाष्य लिखूं। प्रस्तावका स्वरूप इतना क्रांतिकारक है कि लोगोंके लिए उसके भाष्यकी अपेक्षा रखना स्वाभाविक है। इसका भाष्य यदि हुआ, तो वास्तविक व्यवहार द्वारा होगा, शब्दों द्वारा नहीं। तथापि साहित्यके ऋणसे उऋण होना भी आवश्यक है, अतः नीचे थोड़ेमें कुछ लिखता हूं।

प्रस्तावके पूर्वार्द्धमें शारीरिक श्रम और ऐच्छिक गरीबीका तत्त्व स्वीकारा गया है। एक-न-एक कारण खड़ा करके अबतक हम शारीरिक श्रमसे बचनेका प्रयत्न करते रहे हैं। संसारमें फैली हुई विषमता, ऊंच-नीचके विचार, गुलामी और हिंसा, ये सब विशेषकर उस आर्थिक पापके परिणाम हैं, जो शारीरिक श्रमसे बचनेके प्रयत्नमें हम अबतक करते आये हैं। बच्चे और बूढ़े शारीरिक श्रम न करें, विद्यार्थी और अध्यापक शारीरिक श्रम न करें, जो रोगी और असमर्थ हैं वे तो कदापि न करें, निरुद्योगी और उच्चाद्योगी भी न कर, संन्यासी और देशभक्त भी न करें, विचारक, प्रचारक और व्यवस्थापक भी शारीरिक श्रम न करें; तो आखिर करें कौन! वे, जो अज्ञान हैं और पीड़ित हैं? प्रस्तावके पूर्वार्द्धमें इसी वस्तुका परिचय कराते हुए यह कहा गया है कि जबतक हम इस भयंकर स्थितिसे अपना पिंड न छुड़ा लेंगे, तबतक दूसरी कोई भी स्थापना, सिद्धांत, वाद, व्यवस्था, और रचनासे हमारा निस्तार न होगा। मनुके शब्दोंमें यह अर्थ-शुचित्वका एक

प्रयत्न

प्रस्तावके उत्तरार्द्धको 'काम-शुचित्वका प्रयत्न' कहा जा सकता है। स्त्रियों-को अपनी भोग्य सामग्री समझकर एक ओर उनसे अपनी पूरी व्यक्तिगत सेवा करवाना और दूसरी ओर उन्हें अपना भार समझकर उस भारको समाज-सेवापर लादना, एक ऐसी वृत्ति है, जिसमें सेवाका केवल नाम-मात्र रह जाता है। इसके कारण स्त्रियोंकी अद्भुत शक्तिको कोई अवकाश नहीं मिलता और समाज-सेवाका कार्य एकांगी और महंगा होता जाता है। यदि कुटुंब अथवा परिवारकी व्याख्यामें कुटुंबको समाज-सेवाके लिए संगठित एक सहज, स्वयंभू पूर्ण एवं सहायक मंडल मान लिया जाय, तो कुटुंब समाजके लिए भाररूप न रह जाय; उलटे समाजका उपकारक बन जाय।

अर्थ-शुचित्व और काम-शुचित्व दोनों सेवा-धर्मके सच्चे साधन हैं और साध्य भी यही हैं।

जो लोग इस गरीब और पीड़ित देशकी सेवा उत्कट लगनके साथ करना चाहते हैं, वे यदि इस मर्मको समझ लें कि अर्थ-शुचित्व और काम-शुचित्वके बिना वास्तविक सेवा हो ही नहीं सकती, तो मुझे आशा है कि दोनों तत्त्वोंकी सिद्धिके लिए—फिर ये कितने ही कठिन क्यों न प्रतीत हों—प्रयत्न करनेमें अपनी ओरसे बात उठा न रक्खेंगे।

प्रस्तावका अंतिम भाग उन सेवकोंकी अतिरिक्त सहायताके लिए है, जो ग्रामसेवाके क्षेत्रमें प्रवेश किया चाहते हैं या नये-नये प्रविष्ट हुए हैं। महाराष्ट्र-चर्खा-संघने प्रेमपूर्वक, साहसपूर्वक और संकोचपूर्वक कुछ ऐसी व्यवस्था की है कि जिससे कातनेवालोंको बढ़ी हुई मजदूरीके रूपमें ६ घंटे काम करनेपर ३ आने मिलेंगे। यह मजदूरी पर्याप्त तो नहीं है। अपने पिछले ४॥ महीनोंकी कताईके लगातार अनुभव परसे मैं कह सकता हूं कि इस बढ़ी हुई दरके अनुसार भी ६ घंटेमें ३ आने कमाना साधारणतः कठिन ही होगा। अपने इस कथनकी पुष्टिके विवरणमें मैं यहां नहीं उतरूंगा, यद्यपि विवरण मेरे पास तैयार है। किंतु इस स्थितिमें भी सेवकोंको तो उसी तरहका जीवन बिताना चाहिए, जिस तरहका जीवन देशकी गरीब और अनाथ स्त्रियां आज बिता रही हैं। तथापि जबतक सेवाकार्यका रहस्य अपने-आप स्वयं स्फूर्तिसे प्रकट न होने लगे, तबतक

सेवाके संशोधन और चिंतनके लिए प्राथमिक अवस्थामें सेवकको सेवा-कार्य-के अतिरिक्त थोड़ी फुरसत मिलनी चाहिए। इस अतिरिक्त सहायताका यही हेतु है। आगे तो जब सेवक स्वयं चिंतनमें मग्न रहने लगेगा, तो संत तुकाराम-के शब्दोंमें वह भी यह गुनगुनाने लगेगा कि **"चिंतनासी न लगे वेळ। सर्वकाळ करावें।"**

(ह० से०, २१ दिसंबर १९३५)

५—तकलीकी उपासना

स्नान और प्रार्थनाके पश्चात् तकली-उपासना। रोज आध घंटे मौन धारण करके तकली चलानी चाहिए। कल तकली कातते हुए पूछा गया कि यहां कितने लोग तकली चलाते हैं? उत्तर मिला—दो सौ। मुझे आंकड़े नहीं चाहिए थे। मैंने तो सहज ही पूछा था। यह तो गंगोत्रीका प्रवाह है। प्रारंभमें अत्यन्त छोटा दीखता है पर आगे इतना प्रचंड हो जाता है कि माप-जोखकी सुविधा ही नहीं रह जाती। उसमें केवल डुबकी ही लगानी होती है। तकली बिलकुल छोटी दीखती है, परंतु उसकी शक्ति अनंत है। वह चाहे जहां पहुंच सकती है। घरमें वह और हाथमें भी वह; माता-जैसी ही कहो न! तुम कैसे ही उसे रक्खो; वह कभी कोई शिकायत नहीं करनेकी? गुम हो जाय तो उसके गुननेकी शिकायत नहीं। यदि हम उसकी परवाह करें तो उसमें इतनी शक्ति है जितनी और किसी यंत्रमें नहीं। तकली हमारी हलचलका, हमारे आंदोलनका राम नाम है। कहते हैं कि मोक्ष वेदों पर खड़ा है। तब जिनकी पहुंच वेदोंतक नहीं है वे मोक्ष तक क्यों पहुंचने लगे? उस समय संतोंने राम-नामका प्रचार किया। दो अक्षरोंका शब्द, पर उसमें कैसी शक्ति! घर-घर नामका प्रचार हुआ और भक्ति-भावकी बाढ़ आने लगी। हनुमान्की एक बात कहते हैं। वह कूदकर लंकापर चढ़ गये, पर देखा तो उतरनेके लिए जगह नहीं! रातभर हवामें भटकते रहे। सारी लंका राक्षसोंकी। वहां जगह कहां मिलनेको थी? इतनेमें भटकते-भटकते एक मकानमेंसे राम नामका स्वर सुन पड़ा। सुनते ही कितना आनंद हुआ हनु-

मानको। ताली बजाकर नाच उठे और पुकार उठे--'मिल गई, मिल गई, मेरे अधिकारकी जगह।' यही जगह मिली, इसीलिए हनुमान आगेका पराक्रम दिखा के, नहीं तो सारी छलांगें व्यर्थ जा रही थीं।

तकली, देश-सेवाके पथिकको ऐसी ही अधिकारकी जगह है। जिस घर-में वह दीख पड़े वहां निःशंक प्रवेश कर जाओ और चना-चबेनामें साथ हो जाओ। वहां प्रवेश किया कि तुम्हें दीख पड़ेगा कि तुम चक्कर काटकर अपने ही घरमें आ गये। संख्या चाहे जितनी छोटी हो किंतु यदि उसका गुणक बड़ा हुआ तो गुणाकार बड़ा हो ही जाता है। तकली छोटी-सी है किंतु वह करोड़ों-के गुणक बननेके लिए सुलभ है। यह उसका सामर्थ्य है।

आज तो तकलीके पीछे एक मंत्रभी बन गया है। मंत्रके मानी साहित्यकों-की बकझक नहीं है। मंत्रके मानी हैं तपश्चर्याके पेटमें निवास करनेवाली मूल वस्तु। तकलीके लिए अनेकोंने खूब तपश्चर्या की। बेलगांव जेल में काका (कालेलकर) साहबने तकलीके लिए ग्यारह उपवास किये। यरवदा जेल में कोमलवयके दांडेकरने बाईस उपवास किए। मेरे भाईने पेटका आपरेशन होनेपर भी पड़े-पड़े तकलीपर १६० तारोंकी एक लट्टी कातनेका नियम टूटने नहीं दिया। बापूका बायां हाथ प्रायः निरुपयोगी हो गया है तब भी तरुण विद्यार्थीको लज्जित करनेवाले उत्साहसे वे अपने बायें हाथसे यह प्रयत्न करते रहते हैं कि आधे घंटेमें तकलीकी एक अमुक गति होनी चाहिए।

मनुष्य प्राणीको अर्द्धहत्याकी आदत लग गई है। जानवरोंको मारना प्रारंभ करके हमने आधी सृष्टि मार डाली, अस्पृश्यादि जातियां निर्माण करके आधी मनुष्य जाति मार डाली, स्त्रियोंको पुरुषोंसे अलगकरके कुटुंबोंको आधा निरुपयोगी कर दिया और बाएं और दाएंका भेद करके हमने अपना आधा अंग मार डाला। अर्जुनको यह बात सहन नहीं हुई थी। उसका प्रण था कि यदि मुझे दोनों हाथोंसे धनुष चलाना न आया तो मैं धनुर्धारी कैसा? गीतामें भगवान्ने अर्जुनसे कहा है कि "निमित्त-मात्र" हो। परंतु उसके साथ 'सव्यसाचित्' का विशेषण लगाया है। निमित्त मात्र हीके मानी हैं कि दोनों हाथोंसे काम करे। प्रभुके हाथका शस्त्र बन रहना साधारण बात नहीं है। जो अपनी संपूर्ण शक्तिका उपयोग

करेगा वही प्रभुके हाथका शस्त्र बन सकेगा। वह मुरली, अपना अहंभाव ही भूल गई। जली, बदनके आरपार छेद हो गये, उसी दिन प्रभुका चुंबन नसीब हुआ। सौ फीसदी काम करनेका व्रत लेनेवाले ही सच्चे निरहंकारी हैं। कम काम करके प्रभुकी सहायता मांगनेवाले अब अहंकारी हैं।
(ह० से०, ११ मई १९३५)

६—तिल-गुड़ लो, मीठा बोलो

गत वर्ष ता०२५ दिसंबरको, अर्थात् महात्मा ईसाकी पुण्यतिथिको, मैं यहां आकर प्रस्थापित हुआ। मेरे मन इस वर्ष भरमें मैं कुछ भी नहीं कर पाया। हमने हजारों वर्षोंतक हरिजनोंपर जो जुल्म किये हैं, वे यदि तराजूके एक पलड़ेपर रक्खे जावें, और दूसरे पलड़ेपर हमारी सेवा रक्खी जाय, तो वह 'शून्य' के बराबर ही रहेगी।

हम स्वयं कायर, शूद्र, असमर्थ और अत्याचारी हैं। हमें तो अभी अपना कार्य प्रारंभ करना है। इसीलिए आज संक्रांतिका त्योहार मनाया जा रहा है। "तिल-गुड़ लो और मीठा बोलो।" मीठा बोलना कम-से-कम है, जो मनुष्य कर सकता है। कुछ न दे, परंतु मीठा तो प्रत्येकको बोलना ही चाहिए। मैंने भी मीठा बोलनेके सिवा वर्षभर कुछ नहीं किया। मुझसे पहलेसे, लगभग ५० वर्षसे, महात्माजीने हमें क्या सिखाया? हमें मीठा बोलना सिखाया। 'हरिजन'-के मीठे नामका शोध लगानेसे ही, उन्होंने अपनी मीठी वाणीका प्रारंभ किया। मेरी यह श्रद्धा है कि मंत्रसे सांप उतर जाता है। 'हरिजन' शब्दमें गुंथे हुए मंत्रने परिस्थितिमें कितना अंतर पैदा कर दिया! सब प्रांतोंसे पिछड़ा हुआ मद्रास, जहां अछूतको २८ फीट दूर खड़ा किया जाता है, और जहां उसकी छायासे भी छूत मानी जाती है, वहां भी इस महामंत्रकी मिठासका प्रभाव दीख पड़ता है।

जिस देशके पुरुष इतने पीछे हों, वहांकी स्त्रियां कितनी पिछड़ी होंगी? परंतु जब गुरुवायूरके मंदिरके द्वार अछूतोंके लिए खुले रहनेके विषयमें मत

लिये गये, तब १००० स्त्रियोंने मत दिया कि वह मंदिर हरिजनोंके लिए खोल दिया जाय। यही तो मंत्रका प्रभाव है।

जब हम हृदयसे मीठा बोलना सीखने लगते हैं, तब हमारा व्यवहार भी मीठा होने लगता है। इसी तरह मैंने अभी कुछ भी नहीं किया, मेरी सेवाका अभी श्रीगणेश भी नहीं हुआ, तो भी मैं तुम्हें यह विश्वास दिलाता हूं कि मेरा तुमपर प्रेम है। मैंने भेद-भाव नहीं रक्खा। मेरी मां, यद्यपि पुराने जमानेकी थीं, परंतु उन्हें अस्पृश्यता रुचती न थी। मेरा जन्म असल ब्राह्मण-परिवारमें हुआ है। आज ब्राह्मण होना पापरूप हो गया है। तो भी मुझे शर्म नहीं मालूम होती। राम तो सब ओर रम रहा है। भेद-भावका अभाव, यह मेरी कमाई नहीं है। यह तो मां 'गीता'का प्रसाद है। आज भी मुझे, 'काली कमली ओढ़े और लंगोटी लगाये हुए, ईंटपर, महारूपमें खड़ा हुआ 'नारायण' दीख पड़ता है। यही क्यों, जब गांवके छोटे-छोटे हरिजन बालक, मेरी कुटियाके पास आकर ऊधम करते हैं, गड़बड़ मचाते हैं,तब मुझे ऐसा मालूम होता है, कि स्वयं भगवान् विट्ठल आकर मेरे साथ छेड़-छाड़ कर रहा है। उन बालक-बालिकाओं-में मुझे प्रत्यक्ष नारायण दीख पड़ता है। मैं तुम्हें यह कैसे बताऊं, कि तुम मुझे कितने प्यारे हो।

(ह० से०, फरवरी १९३५)

७--हमारी मूर्ति-पूजा

जो सब ओरसे तुच्छ माना जाता है, जिसके न स्थान होता है न सम्मान, जिसकी अवहेलना, जिसका तिरस्कार दुनिया करती है उसे भगवान् अपने हाथों लेता है। उसे वानर चाहिए, ग्वाले चाहिए, निरभिमानी मावले चाहिए। परन्तु अब आप मावले नहीं रहे। हम बड़े हैं, महाशय हैं। ईश्वरको यह नहीं चाहिए। जिन्हें गालियां मिल रही हैं, जो परित्यक्त हैं, ऐसे चुने हुए लोगोंको लेकर भगवान् अपना काम कर लेगा। यदि हम चाहते हों, कि प्रभुका कार्य हमारे हाथों हो, तो—

करि मस्तक ठंगणा । लागे संतांचा चरणा ॥

यानी, "मस्तक नीचा करो, इतना नीचा कि वह संतोंके चरणों पर जा लगे।" यह हमें सीख लेना चाहिए। जो वर्षा हो रही है, उसे रोकने के बजाय उसका उपयोग करना चाहिए।

कई बार मेरे मनमें आया है कि मै गांवोंमें घूमता फिरूं। जेलसे छटते समय भी यही विचार था। परंतु आज तो परिस्थिति ही भिन्न है। मुझे उसका भी दुख नहीं। जो स्थिति प्राप्त होती है, उसमें मेरे आनंदका निवास होता है। मेरे पैरोंको गति कब मिलेगी, कह नहीं सकता। एक बार गति मिली कि वह ठहरेगी, ऐसा भी नही दीखता।

गांवोंमे हमारे व्यक्ति घूमते रहने ही चाहिए। अस्पृश्यता धार्मिक हलचल है। वह कोने-कोनेमें पहुंचनी चाहिए। गांधीजी देशभरमें घूम लिये—इतना ही काफी नहीं। हजारों उस कामको अपने कंधोंपर ले लें। व्याख्यान नहीं, आहुति दीजिए।

गावोंकी जनता महादेव है—वह स्वयंभू महादेव है। वह गांवों हीमें रहेगा यदि तुम इस महादेवके पूजक हो तो तुम्हे उसके पास जाना चाहिए। बीस-तीस गाव ले लिये और लगातार घूमने की धूम मचा दी। भक्तसे जब भगवान् लक्ष्मीनारायणके मंदिरकी एक हजार प्रदक्षिणा करनेके लिए कहा जाता है तब उसमें भक्तको कुछ अनुचित नही मालूम होता। तो फिर जनतारूप महादेवके पूजनमे भी भक्तका वह उत्साह क्यों न होना चाहिए? देवताकी एक प्रदक्षिणा करके भक्त एक बार देवताका दर्शन करता है और फिर दूसरी बार प्रदक्षिणाके लिए चल देता है। फिर दर्शन, फिर प्रदक्षिणा; यही उसका क्रम होता है। जनसेवकोंको भी चौदह दिनोंमें चौदह गांव घूमने चाहिए। पंद्रहवें दिन प्रधान केन्द्रमें अपनी जानकारी देनी चाहिए। और फिर दक्ष होकर प्रदक्षिणापथमे लगना चाहिए। भक्त जब प्रत्येक परिक्रमामे प्रभु-मूर्ति की ओर देखता है, तब उसके हृदय पर मूर्ति खिचती जाती है; हृदयपर जमती जाती है; उसका 'स्वरूप' ध्यानमे आता जाता है। स्वरूप ध्यानमें आते ही यह समझमें आता है, कि इस देवताकी भक्तिका पथ

क्या है; पूजाकी सामग्री क्या है। उस समय यदि मैं भक्त होऊं तो देवतासे एक रूप हो जाता हूं। मेरा हृदय देवताके हृदयसे मिल जाता है। तभी देवताकी कृपा होती है; उसका अनुग्रह होता है।

लोक-सेवा हमारी मूर्ति-पूजा है। ५-२५ गांवोंका संग्रह हमारा महा-मंदिर है। गांवोंमें क्या-क्या है, उसकी हम फेहरिस्त बना लें; मनपर भी, कागजपर भी। फेहरिस्त हम जन-सेवकोंको दे दें; वे देवताका स्वरूप समझ लें। जान लें, वह दिगंबर हो गया है, धूल लिपट रही है, सिरसे पानी बहता है, केवल बैल ही उसके पास सम्पत्ति रह गई है और जंगलका निवास। जन-सेवक जान लें कि देवताका स्वरूप क्या है, चेहरा कैसा है, भाव कौन-से हैं, उसकी रुचि और अरुचि की वस्तुएं क्या हैं और उसका नैवेद्य क्या हो गया है और उस पर कौन-से पुष्प चढ़ते हैं। परिचय हुए बिना पूजा न बनेगी। ऐसा न करनेपर शिवपर तुलसी होगी, विष्णुपर बेल-पत्र! देव-पूजामें जल्द-बाजी नहीं चलती। तुम्हें शीघ्रता हो, पर देवताको जल्दी नहीं पड़ी। वह शांतिका अवतार है। उसपर इकट्ठा घड़ा उँड़ेलनेसे काम नही चलेगा; उसे तो बिंदु-बिंदुकी चाह है। एकदम उँड़ेलनेकी अपेक्षा वह तो सतत धारा जारी रखनेसे ही प्रसन्न होता है।

(ह० से०, ६ अप्रैल १९३४)

८—मृत्युरूपी वरदान

सचमुच मृत्यु ईश्वरकी ही देन है। जब हमारे निकटतम नातेदार, मित्र, कोई भी हमें दुःखोंसे नहीं बचा पाते, तब वही छुटकारा देती है। मृत्युमें जो दुःख माना जाता है, वह वास्तवमें जीवनका दुःख है। रोगादिकसे होनेवाला दुःख मृत्युका नहीं जीवनके असंयमका फल है। मृत्यु तो उनसे हमें छुटकारा दिलानेवाली है। मृत्युका उनसे संबंध नहीं है।

अतः मृत्युके सिर व्यर्थ मढ़े जानेवाले इस शारीरिक दुःखको बाद दे दिया जाय तो और दो दुःख बाकी बच जाते हैं। एक पूर्व-पापोंकी स्मृतिसे होनेवाला

दूसरा निकटस्थ जनोंके विछोहकी आसक्तिसे होनेवाला। पहलेके लिए मृत्यु कैसे जवाबदेह है? वह जीवनके पापोंका फल है। दूसरा मोहका है। यदि हमारा प्रेम सच्चा हो और सेवाकी तड़पन हो,तो देह त्यागनेपर हम मित्रोंसे दूर नहीं जानेके, बल्कि निकट पहुंचेंगे—ठेठ उनके भीतर प्रवेश पायेंगे। देहका परदा मौजूद रहते, किसी तरह भी हम इतने अंदर नहीं जा सकते थे। कितनी ही गहरी सेवा हो वह ऊपरी ही होती है। देहका पर्दा दूर हो जानेसे अब हम दूसरेकी अंतरात्मामें घुलमिलकर उसकी सेवा कर सकते है। पर सेवा करनी हो तबकी यह बात है। अर्थात् इसके लिए निष्कामता चाहिए।

और एक दुःख बाकी बच जाता है। पर वह मृत्युका नहीं हमारे अज्ञानका है। मृत्युके बाद क्या होगा कौन जाने? हमारे मनकी सद्भावनाके विरुद्ध मृत्युके बाद कुछ होनेवाली नहीं है और कुवासना ही हो, तो जो कुछ बुरा होगा, वह उस कुवासनाका ही फल होगा--यदि ऐसी श्रद्धा, ईश्वरकी न्यायबुद्धिपर, हो तो वह काल्पनिक भय टल जायगा।

सारांश, कुल दुःख चार हैं—

(१) शरीर-वेदनात्मक, (२) पापस्मरणात्मक, (३) सुहृन्मोहात्मक, (४) भावी चितात्मक, और उनके चारही उपाय है क्रमानुसार—

(१) नित्यसंयम, (२) धर्माचरण, (३) निष्कामता, (४) ईश्वरमें श्रद्धा।

मृत्युका निरंतर स्मरण रखना, बुद्धिमें मरण-मीमांसा द्वारा निःशंकता लाना और रोज रातको सोनेसे पहले मरणाभ्यास करना, यह तिहेरी साधना करते रहना चाहिए। पहला गीताके १३वें अध्यायमें ज्ञान-लक्षणमें वर्णित है। उसपर ज्ञान-देवकी व्याख्या सुस्पष्ट है। दूसरा दूसरे अध्यायके शुरूमें ही है। तीसरा आठवें अध्यायमें है।

(सर्वोदय : १९४१)

६—नैष्ठिक ब्रह्मचर्य

मनुष्यजीवन अनुभवका शास्त्र है। उस अनुभवकी बदौलत मनुष्य-समाजका काफी विकास हुआ है। किंतु हिंदु-धर्ममें उस अनुभवका शास्त्र रचकर एक विशिष्ट साधना जारी की, जिसे ब्रह्मचर्य कहते हैं। अन्य धर्मोंमें भी संयम तो है ही; पर उसे शास्त्रीय रूप देकर हिंदू-धर्मने जिस प्रकार उसके लिए शब्द बनाया वैसा शब्द अन्यत्र नहीं पाया जाता। छोटा रहते वृक्षको अच्छी-से-अच्छी खादकी जरूरत होती है। यों तो पोषण जन्मभर चाहिए, पर कम-से-कम बचपनमें तो वह सबको मिलना ही चाहिए। इस दृष्टिसे हिंदू-धर्मने ब्रह्मचर्य-आश्रमको खड़ा किया। पर आज मैं उस आश्रमके सबंधमे नही, ब्रह्मचर्य-वस्तुकें संबंधमें कहनेवाला हूं। अपने अनुभवसे मेरा यह मत स्थिर हुआ है कि यदि आजीवन ब्रह्मचर्य रखना है तो ब्रह्मचर्यकी कल्पना अभावात्मक (Negative) नहीं होनी चाहिए। विषय सेवन मत करो, कहना अभावात्मक आज्ञा है; इससे काम नहीं बनता। सब इंद्रियोंकी शक्तिको आत्मामें खर्च करो, ऐसी भावात्वक (Positive) आज्ञाकी आवश्यकता है। ब्रह्मचर्यके संबंधमें, यह मत करो, इतना कहकर काम नहीं बनता। यह करो, कहना चाहिए। ब्रह्म अर्थात् कोई भी बृहत् कल्पना। कोई मनुष्य अपने बच्चेकी सेवा उसे परमात्म-स्वरूप समझकर करता है, और यह इच्छा रखता है कि उसका लड़का सत्पुरुप निकले, तो वह पुत्र ही उसका ब्रह्म हो जाता है। उस बच्चेके निमित्तसे उसका ब्रह्मचर्य पालन आसान होगा। माता बच्चेके लिए रात-दिन कष्ट सहती है फिर भी अनुभव करती हैं कि उसने बच्चेके लिए कुछ न किया। कारण, बच्चेपर उसका जो प्रेम है उसकी तुलनामें वह जो कष्ट उठाती है वह उसे बहुत अल्प मालूम होता है। उसी प्रकार ब्रह्मचारी मनुष्यका जीवन तपसे—संयमसे—ओत-प्रोत रहता है। पर उसके सामने रहनेवाली विशाल कल्पनाके हिसाबसे सारा संयम उसे अल्प ही जान पड़ता है। इंद्रिय-निग्रह मैं करता हूं ऐसा कर्तरि प्रयोग न रहकर इंद्रिय-निग्रह किया जाता है, यह कर्मणि प्रयोग बच जाता है। हिंदुस्तानकी दीन जनताकी सेवाको ध्येय बनाने-

वालेके लिए वह सेवा उसका ब्रह्म है। उसके लिए वह जो करेगा वह ब्रह्मचर्य है। संक्षेपमें कहना हो तो नैष्ठिक ब्रह्मचर्य पालनेवालेकी आंखोके सामने कोई विशाल कल्पना होनी चाहिए तभी ब्रह्मचर्य आसान होता है। ब्रह्मचर्यको मैं विशाल ध्येयवाद और तदर्थ संयमाचरण कहता हूं। यह ब्रह्मचर्यके संबंधमें मैंने मुख्य वस्तु बतलाई। दूसरी एक बात कहनेको बच जाती है, वह यह कि जीवनकी छोटी-छोटी बातोंमें भी नियमनकी आवश्यकता होती है। खाना, पीना, बोलना, बैठना, सोना इत्यादि सब विषयोंमें नियमन चाहिए। मनचाही चाल चलें और इंद्रिय-निग्रह साधें यह आशा व्यर्थ है। घड़ेमें तनिक-सा छेद हो तो भी वह बेकार हो जाता है। उसी प्रकार जीवनमें छिद्र नहीं होना चाहिए।
(ग्राम-सेवा-वृत्त ४-८)

१०—सूत्र-मनन और पुराण-श्रवण

कागज नपा हुआ मिलता है। एक ही ओर लिखना रहता है, छपे हुए हाशियेसे बाहर जाना नहीं है। हर कागजका सिरा—तिहाईसे भी ज्यादा—जेलकी मुहर ले लेती है। इतनी मर्यादामें रहकर पूरे समाचार लिखनेकी दो युक्तियां हैं:—(१) सूक्ष्माक्षर और (२) स्वल्पाक्षर। पहलीके लिए तेज नजर और कंजूस दिल चाहिए। यहां दोनोंका अभाव है। तब बाकी रही दूसरी युक्ति, उससे खूब काम लिया जा सकता है। स्वल्पतम कहिए कम-से-कम, अर्थात् शून्याक्षरोंमेंसे अनंत अर्थ दिया जा सकता है। मैं यह सदा ही करता हूं। पर बहुतोंके लक्ष्यमें यह नहीं आता। वे कहते हैं कि मैं कुछ भी लिखता-लिखाता नहीं हूं। मैं कहता हूं कि मैं अनंत लिखता हूं, शिकायत करनेवाले लोग समझते कैसे नहीं हैं ?

स्वल्पतमको जाने दीजिए। पर स्वल्पाक्षरोंमें अपार अर्थ भरनेके कुछ उदाहरण साहित्यमें हैं। इनमें भगवद्गीता सर्वपरिचित उदाहरण है। गीतामें भी बहुत विस्तार ऐसा है कि जो संक्षिप्त हो सकता है। पर गीता तो गीता ही जो ठहरी। गीतमें गानेवालेके पसंदके आलाप और ठेका बार-बार आना ही

ठहरा। लेकिन योग-सूत्रोंका उदाहरण इस संबंधमें आदर्श कहा जा सकता है। कुल १९५ सूत्रोंमें चित्त-वृत्ति-निरोधका संपूर्ण शास्त्र कह डाला गया है। इतने अल्पाक्षरोंमें पतंजलिने अपना सारा जीवन भर दिया। बाईससौ वर्षोंमे यह छोटा मणि-दीप अपने मूल्यके तेजमें ज्यों-का-त्यों प्रदीप्त है।

इससे विपरीत, पुराणोंकी वृत्ति है। उस कहावतके अनुसार कि "खोदा पहाड़, निकली चुहिया" पुराणोंका चिन्तन विहित नहीं है, उसका श्रवण विहित है। अर्थात् सिर्फ सुनने-सुननेसे काम है। याद रखनेकी जिम्मेदारी नहीं। उलटे, जितना भुला सकें उतना खुशीसे और जरूर भुला दें। तनेपर भी कुछ संस्कार मनपर रह ही जायंगे। वही उसका काम है। बहुजन-समाजको, कोई कष्ट दिये बिना, संस्कार पहुंचानेके लिए पुराणोंका जन्म है। इन दिनों मै खांडण (रूई निक्रियानेका एक प्रकार) करते-करते समाजवादका श्रवण करता हूं। सर्व-सामान्य समाजवादी-साहित्यकी शैली पुराणसे मिलती-जुलती है। भारवत्ता और स्वल्पसारत, पुनरुक्तिकी अपार शक्ति और समाज-सेवाकी उतनी ही तड़फड़ाहट समाजवादी साहित्यकी यही विशेपता है। इस संबंधमें संस्कृतके पुराण ही उसकी समता कर सकते हैं। समाजवादी साहित्यके इस गुणके कारण बुद्धिपर बिना कोई जोर पड़े समाजवादका मुझे ज्ञान मिलता रहता है। और खांडण निर्बाध—बेखटके चलता रहता है।

(ग्राम-सेवा-वृत्तसे)

११—ग्राम-सेवा-शास्त्रकी एक कलम

देहातोंकी सेवाके शास्त्रका दिन-पर-दिन चितन कर रहा हूं। कई बाते निश्चित हो चुकी हैं, कई अभी होनी बाकी है। देहातोंकी सेवाके शास्त्रकी एक कलम (धारा) निश्चित है—"कम-से-कम आठ घंटे शरीर-परिश्रम और वह भी आजकी परिस्थितिमें राष्ट्रीय जीवनमें पड़े हुए गड्ढेको पाटनेके लिए।" और कलमें इसी तरह निश्चित हो रही हैं। एक-एकपर ही अमल करना शुरु कर देंगे, तो निर्णय हो जायगा।

शरीर-परिश्रमके फल-स्वरूप जड़ता पैदा होनेका डर मुझे नहीं है। विचारोंकी भाफ जब अंदर-ही-अंदर बंद रहती है, तो चिंतनके लिए यथेष्ट अवकाश मिलता रहनेके कारण उलटे तीव्रता बढ़ती है, ऐसा अनुभव हो रहा है। अगर योगपूर्वक काम किया जाय, तो शरीर कमजोर होनेका कोई सबब नहीं है। बल्कि बलवान् होनेके लिए यथेष्ट कारण है। आठ घंटे काम करने-पर भी चार-पांच घंटे अवांतर सेवाके लिए बाकी रहते हैं। आठ घंटेका शरीर-परिश्रम एक बड़ी भारी सेवा साबित होती है। वक्तृत्व उतना वाग्पटु नहीं है, जितना कि उदाहरण है। और अगर वक्तृत्वकी सहायताकी जरूरत ही रहती हो, तो ठीक उसी तरह रहती है जैसे कि एकके अंकको शून्यकी होती है। उतनी मदद ली जा सकती है।

हिंदुस्तानका आजका सबसे मुख्य रोग है आलस। उसे महारोग भी कह सकते हैं। इसकी रामबाण औषध है उद्योगी मनुष्यका जीता-जागता उदाहरण और संगति। हम निरंतर उद्योग करते रहकर, उसे व्यवस्थित हिसाबी वृत्तिसे सफल बनाकर, अपनी कृति और संगतिसे और साथ-साथ समझा-बुझाकर उस रोग-का निवारण कर सकते हैं।

इसलिए (१) उद्योग चाहिए, (२) वह निरंतर चाहिए (३) वह हमारे जीवन में घुल-मिल जाना चाहिए, (४) उसीपर हमारे जीवनका आधार होना चाहिए, (५) सारे बाहरी आधारका त्याग करना चाहिए, (६) उद्योग व्य-वस्थित चाहिए, और (७) उसकी सफलता सिद्ध होनी चाहिए।

जबतक इतनी बातें नहीं होंगी, तबतक देहाती जनतामें हमारे कार्यका प्रवेश नहीं होगा, चाहे हमारे शरीरका भले ही हो।

लोक-संग्रह या सेवाकी गलत, मोहक और त्वरित कल्पनाके चक्करमें पड़कर नाना उद्योग अथवा व्यवसाय अथवा ढोंग या रंग-ढंग खड़े करनेसे एक क्षणके लिए लोगोंकी भीड़ लगी हुई दीख पड़ेगी। लेकिन वह कार्यकारी नहीं होगी। (ग्राम-सेवा-वृत्त : मार्च १९४१)

१२—गाँवका आरोग्य

उस दिन पवनारका एक लड़का मुझे रास्तेमें मिला। बोला, "मुझे खुजली हो गई है, कोई उपाय बताइए!" मैंने उसे थोड़ेमें बतला दिया, रोज सवेरे गायका ताजा मट्ठा पीए जाओ, इससे तुम्हारा रोग जाता रहेगा। गांवके मेरे सारे अनुभवका यह निचोड़ है कि गायका ताजा मट्ठा गांवके लिए एक भारी तारक (तारने वाला) तत्त्व है। इसके लिए मैंने एक संस्कृत सूत्र बनाया है—**तक्रं तारकम्—**

गांवमें खाज-खुजला, दाद इत्यादि चर्म रोग छोटे बच्चोंसे लगाकर बूढ़ों-तक सबको दिखाई देते हैं। मुझे इसके जो कारण जान पड़े, वे उपाय सहित बतलाता हूं—

(१) **गंदी रहन-सहन—**और उसमें भी नहानेकी लापरवाही। रोज न नहानेवाले भी हैं। लेकिन जो रोज नहानेवाले हैं उनका भी नहाना 'नहाना' नहीं कहला सकता। नहाना तो पूरा नहीं होता, अलबत्ता 'भीगे कान और हुए असनान' की कहावत पूरी होती है। सारे बदनको रगड़कर नहानेकी कौन कहे, पूरा बदन गीलातक नहीं करते। इसके लिए घरमें पर्देदार नहानेकी जगह चाहिए जहां नंगे होकर नहानेकी आदत और रिवाज डालना सिखाया जाना चाहिए। गुप्त अंगोंको अच्छी तरह मलकर धोना चाहिए। यह सार्वत्रिक शिक्षणका विषय है।

(२) **पीनेका साफ पानी—**खासकर नदी किनारेके गांवोंमें और उसमें भी बरसातके दिनोंमें लोग जो पानी पीते हैं वह बहुत ही गन्दा होता है। इसका साधारणसे साधारण उपाय पानीको औटाकर पीना है। हरिजन बस्तियोंमें तो स्वच्छ पानी नसीब ही नहीं होता। हरिजनोंके पानीका सवाल बिल्कुल सामान्य भूतदयाका सवाल है। ऐसे मामूली सवालकी ओरसे जो समाज आंखें मूंदता है वह स्वराज्यके लायक कैसे समझा जा सकेगा।

(३) **भोजनकी कमी और भूलें—**इस शीर्षकमें तीन मुख्य दोष आते हैं। इन्हें मैं गांवके आहारके त्रिदोष कहा करता हूं—

(अ) भोजनमें भूल कहिए सड़ी-घुनी चीजोंका उपयोग। गांवमे मांस और मछली जो मोल लेकर खाई जाती है, वह बहुत करके 'सड़ी' ही कहनी चाहिए। गांवोंमें मजदूरोंको जो अनाज मिलता है वह प्रायः घुना और रद्दी मिलता है। देहातके महाजनोंको इस ओर ध्यान देना चाहिए।

(आ) गांवके आहारमें जो एक जबरदस्त कमी है, वह है रोजके भोजनमें तरकारीका अभाव। तरकारीके महत्व पर ज्यादा लिखनेकी जरूरत नहीं है, क्योंकि उसकी जरूरत तयशुदा चीज हो गई है। किसानोंकी खुराकमें किसी-किसी मौसममें तो तरकारीका नाम भी नहीं होता। कहनेवाले तो नाजसे चौगुनी तरकारी खानेकी बाततक पहुंचते हैं। मैं यह नहीं कहूंगा। उलटे मैं तो मानता हूं कि तरकारीकी मिकदार साधारणतः कम ही ठीक है; तथापि हर रोज आदमी पीछे दस तोला तरकारी तो किसानके भोजनमें जरूर ही होनी चाहिये।

(इ) भोजनमें दूसरी कमी है गायके मट्ठेकी, जिसका जिक्र लेखके शुरूमें ही किया गया है। रोजकी खुराकमे कुछ-न-कुछ पाचक अम्लतत्त्व होना जरूरी है। गायका ताजा मट्ठा, यह थोड़ी कोशिशसे सबको रोज मिल सकने लायक उत्तम अम्ल है। इसके सिवा दूधका सारा ओज (प्रोटीन) मट्ठेमें है। खनिज-लवण भी उसमें भरपूर हैं। अगर कम-से-कम पावभर मट्ठा किसानको रोज मिल जाय तो वह कई रोगोंसे बचा रह सकता है।

थोड़ी मेहनत करनेपर इतना-सा मट्ठा मिलना मुश्किल नहीं है। पर मिलेगा तभी, जब उसके लिए मेहनत की जायगी। (ग्राम-सेवा-वृत्तसे)

१३—गंभीर अध्ययन

अध्ययनमें लंबाई-चौड़ाई महत्वकी चीज नहीं है; महत्व है गंभीरताका। बहुत देर तक घंटोंके घंटे और भांति-भांतिके विषयोंका अध्ययन करते रहनेको मैं लंबा-चौड़ा अध्ययन कहता हूं। समाधिस्थ होकर नित्य-निरंतर थोड़ी देर किसी निश्चित विषयके अध्ययनको मैं गंभीर अध्ययन कहता हूं।

१०-१२ घंटे सोना, पर करवटें बदलते रहना या सपने देखते रहना-ऐसी नींद-से विश्रांति नहीं मिलती। बल्कि ५ ही ६ घंटे सोवें किंतु निद्रा गाढ़ हो तो इतनी नींदसे पूर्ण विश्रांति मिल सकती है। यही बात अध्ययनकी है। समाधि अध्ययन का मुख्य तत्त्व है।

समाधि-युक्त गभीर अध्ययनके बिना ज्ञान नहीं। लंबा-चौड़ा अध्ययन बहुत कुछ फालतू ही होता है; उसमें शक्तिका अपव्यय होता है। अनेक विषयोंपर गाड़ी भर पढ़ाई पढ़ते रहनेसे कुछ हाथ नहीं लगता। अध्ययनसे प्रज्ञा, बुद्धि स्वतंत्र और प्रतिभावान होनी चाहिए। प्रतिभाके माने हैं बुद्धिमें नए-नए कोपलें फूटते रहना। नई कल्पना, नया उत्साह, नई खोज, नई स्फूर्ति ये सब प्रतिभाके लक्षण हैं। लंबी-चौड़ी पढ़ाईके नीचे यह प्रतिभा दबकर मर जाती है।

वर्तमान-जीवन में आवश्यक कर्म-योगका स्थान रखकर ही सारा अध्ययन करना चाहिए। अन्यथा भविष्य जीवनकी आशामें वर्तमान कालमें मरने जैसा प्रकार बन जाता है। शरीरकी स्थितिपर कितना विश्वास किया जाता है यह प्रत्येकके अनुभवमें आनेवाली बात है। भगवानकी हम सबपर अपार कृपा ही समझनी चाहिए कि हममें वह कुछ-न-कुछ कमी रख ही देता है। वह चाहता है कि यह कमी जानकर हम जागृत रहें।

दो बिंदुओंसे रेखाका निश्चय होता है। जीवनका मार्ग भी दो बिंदुओंसे ही निश्चित होता है। हम हैं कहां यह पहला बिंदु; हमें जाना कहां है यह दूसरा बिंदु। इन दोनों बिंदुओंका तै कर लेना जीवनकी दिशा तै कर लेना है। इस दिशापर लक्ष रखे बिना इधर-उधर भटकते रहनेसे रास्ता तै नहीं हो पाता।

सारांश, 'अल्प मात्रा सातत्य, समाधि, परमावकाश और निश्चित दिशा' यह गंभीर अध्ययनका सूत्र है।

(ग्राम-सेवा-वृत्त से)

१४—निसर्ग-सेवनकी दृष्टि

तुम अब आजकल निसर्गकी उपासनाका आनंद ले रहे हो। हवाखोरी-

की कल्पना निसर्गके पूरे-पूरे फायदे हासिल करने नहीं देती। इसलिए केवल उतनी ही कल्पना न रखते हुए उसके साथ-साथ दूसरी भी व्यापक कल्पना की जाय तो ऐसे स्थान हरि-दर्शन करा सकेंगे। पहाड़, नदी आदि स्थानोंमें शिमला, महाबलेश्वर इत्यादि विलास-स्थानका निर्माण करनेमें ईश्वरका अत्यन्त अपमान है। हमारे पूर्वज इस प्रकार अपमान नहीं करते थे। इसलिए निसर्ग देवताकी कृपासे उन्हें आध्यात्मिक लाभ होता था।

वैदिक ऋषि, उपनिषद्, गीता, योगशास्त्र, सन्तोंके अनुभव इन सबमें एकांतसेवन और निसर्ग-परिचयके अनेक विधलाभोका वर्णन है। ....मनुष्य-समाजके अति प्राचीन ग्रंथसे एक वचन यहां उद्धृत कर रहा हूं।

'उपह्वरे गिरीणाम्। संगमे च नदीनाम्।' धिया विप्रो अजायत।'—ऋग्वेद

इस मंत्रका ऋषि 'वत्स काण्व' है। छन्द गायत्री। देवता इन्द्र। इंद्र याने परमात्मा। उसीको इस मत्रमें 'विप्र' याने 'ज्ञानी' कहा है। वह कहां और कैसे प्रकट हुआ ('अजायत'–जन्म लिया, प्रकट हुआ) यह इस मन्त्रमें कहा है। "पर्वतोंकी कंदराओंमें और नदियोंके संगम पर ध्यान-चिंतनसे ('धिया')ज्ञानीका जन्म हुआ।"

ज्ञानी पुरुषका जन्म किस स्थानपर हुआ और वहां क्या करनेसे हुआ, ये दोनों बातें इस मंत्रमें हैं।

(ग्राम-सेवा-वृत्त)

१५—अतिथिको देव क्यों मानें?

जिन-जिनका हमपर उपकार है उन-उनके विषयमें देव-भावना रखकर उनकी सेवा करना और उनके ऋणसे चाहे थोड़ा ही क्यों न हो, मुक्त होना हमारा धर्म है। मातृ-देव, पितृ-देव और आचार्य-देव, ये तीन देव माननेकी बात तो आसानीसे समझमें आ जाती है। इनके हमपर बड़े उपकार हैं। उसी प्रकार समाजका भी हमपर बड़ा एहसान है। हम समाजकी अनत प्रकार

की सेवा लेते ही रहते हैं । इसलिए समाजको देवता मानकर बदलमें उसकी सेवा करना हमारा धर्म हो जाता है । हम अपने घर आनेवाले अतिथिको समाजका एक प्रतिनिधि समझना चाहिए । अतिथिके रूपमें समाज हमसे सेवा मांग रहा है, हमारी यह भावना होनी चाहिए । समाज केवल अव्यक्त है—अतः 'अतिथि-देव'का अर्थ है 'समाज-देवता' । समाज अव्यक्त है, अतिथि व्यक्त है । समाजकी अतिथि व्यक्त मूर्ति है । अतिथिकी भांति दीन, दुःखी, पीड़ित, रोगी इत्यादिकी सेवा करना भी समाज-पूजाका एक अंग है । दरिद्रनारायण भी एक महान् देवता है । उनका हमपर वह उपकार है जिसका कभी बदला नहीं चुकाया जा सकता ।

(ग्राम-सेवा-वृत्त)

१६—भगवान दीनबंधु हैं

प्रभुको चिंता सबकी रहती है, पर विशेष चिंता उसे दीनोंका होती है । और लोग प्रभुके भी हैं, पर दीन प्रभुके ही हैं । औरोंका आधार भी और होता है, किंतु दीनोंका तो आधार दीनदयाल ही होता है । समुद्रके बीच जहाजके मस्तूलसे उड़े हुए पंछीको मस्तूलके सिवा और ठिकाना कहां हो सकता है ? उससे हटकर वह कहां रह सकता है ? दीनका चित्त प्रभुसे छूटे भी तो किससे लगे ? इसलिए दीन प्रभुके कहलाते हैं, प्रभु दीनोंका कहलाता है । दीनताका यही वैभव देखकर कुंतीने उस समय जब उसे प्रभुने वर मांगनेको कहा, दीनता मांगी । कोई कह सकता है कि प्रभु तो देता था कटोरीमें, पर अभागिनीने मांगा दोने में ! फूटी कटोरीसे साबित दोना सौ दर्जे अच्छा ।

कदाचित् कोई तार्किक बीचमें ही पूछ बैठे कि, तो फूटी कटोरीकी बात क्यों ? मैं स्पष्ट कहूंगा कि नहीं, पानी पीनेकी दृष्टिसे तो साबित दोने और साबित कटोरीका मूल्य समान है, पर अंदर पैठकर देखें तो वह धातकी कटोरी धातकी वस्तु बन जाती है । कटोरीकी छातीमें एक बड़ी धुकधुकी लगी रहती है–'मुझे कोई चुरा तो नहीं ले जायगा ? दोनेकेलिए यह भय असंभव है, अतः

वह निर्भय है।

फिर कटोरी और साबितका योग ही मुश्किलसे मिलता है। रामदासके शब्दोंमें, जो बड़ा सो चोर। ऐसे उदाहरण बहुत थोड़े हैं, कि आदमी बड़ा हो और उसपर प्रभु न्यौछावर हों। लगभग ऐसे उदाहरणोंका अभाव ही है, और जो कहीं और कभी दीख पड़े, तो ऐसे कि जन्मका बड़ा, किंतु बड़प्पन खोकर-अत्यंत दीन होकर–भगवानके शरण पड़ा हुआ। उसी दिन प्रभुने उसे अपने निकट खींच लिया। राजा बलिने जब राजत्वका साज हटाकर मस्तक झुकाया, तब प्रभुने उसके आंगनमें खड़े रहना अंगीकार किया। गजेंद्रको जबतक अपने बलका घमंड रहा, तबतक उसने सब कुछ करके देख लिया और जब गर्व गला तब उसे दीनबंधुकी याद आई। उसी दिनकी कथाका नाम तो 'गजेंद्र-मोक्ष' है। और अर्जुन ? जिस दिन वह अपनी जानकारीके ज्वारसे जीवित बाहर आया उस प्रभुने उसके सम्मुख गीता बांची। पार्थका––प्रभुसे ही मत-भेद हो गया। बड़ा आदमी जो ठहरा! प्रभुके मतसे उसके मतका सौतियाडाह क्यों न हो? किंतु बारह वर्षके वनवासने उसे 'महत्ता'से उतारकर 'संतता'की सेवा करनेका अवसर दिया। जब जानकारीपर अधिष्ठित मतके पांव डगमगाने लगे तो उसने निकटस्थ प्रभुके पाँव पकड़े। "मैं तो इंद्रियोंका गुलाम हूं। और मेरा 'मत' क्या ? मेरी तो इंद्रियां चाहे जैसा निश्चय करती है और मन मल्ल उसपर अपनी सही कर देता है। वहां धर्मको देख सकनेवाली दृष्टिका गुजर कहां ? प्यारे, मैं तुम्हारे द्वारका सेवक हूं। मुझे तुम्हीं बचाओ।" तब भगवान्की वाचा फूटी––गीता कही जाने लगी। परंतु गीता कहते-कहते भी श्रीकृष्णने एक बात तो कह ही डाली––"बड़प्पनकी बात तो खूब करते हो" गरज यह, कि बड़े लोगोंमें यदि किसीके, प्रभुके प्यारे होनेकी, बात सुनी जाती है, तो वह उसीकी, जो अपना बड़प्पन, अपनी महत्ता एक ओर रखकर छोटे-से-छोटा, दीन, निराधार बन गया। तब वह प्रभुका आत्मीय कहलाया। जिसे जगतका आधार है, उसकी जगदाधारसे कैसी रिश्तेदारी ? जिसके खातेमें जगत्का आधार जमा नहीं रह गया, उसीका बोझ प्रभु अपने कंधोंपर ढोते हैं।

(ह० से०, १६३४)